प्रकाशक—

श्री पन्नालाल बाकलीवाल

महामंत्री—भारतीयजैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्था,

८ महेंद्रबोस लेन, कलकत्ता।



मुद्रक—

श्रीलालजैन काव्यतीर्थ

जैनसिद्धांतप्रकाशक (पवित्र) प्रेस,

८ महेंद्रबोस लेन, कलकत्ता।

प्रस्तावना ।

यह मूल ग्रंथ माणिकचंद्रजैनग्रंथमालामें उसके मंत्री पं० नाथूरामजी प्रेमीके प्रबंधसे प्रकाशित हो चुका है उससे पहिले यह अश्रुतपूर्व था क्योंकि इसकी एकमात्र प्रति ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीकी कृपासे उक्त ग्रंथमालाके मंत्रीको प्राप्त हुई थी ऐसा उनके कृतज्ञता प्रकाशसे प्रकट है। अस्तु। किंतु इसमें कोई संदेह नहीं है कि यह ग्रंथ बडे महत्त्वका है। जैसा इस ग्रंथका विषय जटिल है वैसी इसकी कविता भी हृदयहारिणी सरल है। जटिल विषयके वर्णन करनेमें इसकी हृदयहारिणी सरल कविता इस ग्रंथके कर्ता कविका अनुपम पांडित्य और अध्यात्मसंबंधी अनुपम अनुभव प्रकट करती है। ग्रंथकी गाथा पढते ही आत्मामें अलौकिक आनंदकी छटा छटकने लगती है। जैनसिद्धांतमें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप ये चार आराधनायें मानी हैं आत्माका असली स्वरूप जिसे मोक्ष कहते हैं इन्ही आराधनाओंकी कृपापर निर्भर है इसलिये मोक्षकी प्राप्तिमें ये असाधारण कारण हैं। उन्हीं आराधनाओंका बडी स्फुटतासे किंतु संक्षेपमें यहां वर्णन किया गया है। जैन समाजमें भगवती आराधना ग्रंथ प्रसिद्ध है धर्मप्रेमी उससे बखूबी आराधनाके स्वरूपका

ज्ञान करलेते हैं किंतु आराधनाका स्वरूप किंवा सारको समझानेमें यह ग्रंथ भी अनुपम है। यह ग्रंथ उक्त ग्रंथमालामें काष्ठासंघके आचार्य क्षेमकीर्तिके शिष्य श्री रत्नकीर्तिदेव विरचित संस्कृत टीकाके साथ प्रकाशित हुआ है इसलिये संस्कृत प्राकृतज्ञ विद्वान तो इस ग्रंथका रसास्वाद कर सके हैं किंतु अन्य महाशय भी इस ग्रंथका रसास्वादन कर सकें और लाभ उठा सकें इसलिये हिंदीभाषामें यह पुनः अनुवादसहित प्रकाशित किया गया है और संस्कृत टीकामें जो श्लोक किंवा नये नये भाव उल्लिखित किये गये हैं उन्हें भी अनुवादमें लिखा गया है।

ग्रंथके अंतमें ग्रंथकारने सिवाय अपने नामके और कुछ भी नहिं लिखा इसलिये यह निश्चयरूपसे नहिं कहा आसक्ता कि कौन देवसेन इस ग्रंथके कर्ता हैं क्योंकि दिगंबरजैन ग्रंथकर्ता और उनके ग्रंथ इस पुस्तकके लेखानुसार देवसेन नामके कई ग्रंथकार हो गये हैं एक तो नयचक्र आलापपद्धति ज्ञानसार आदिके कर्ता वि० सं० ९९०में नंदिसंघीय देवसेन। दूसरे चंदनषष्ठ्युद्यापनके कर्ता देवसेन भट्टारक। तीसरे सुलोचनाचरित्रके कर्ता देवसेन ब्रह्मचारी और चौथे संस्कृत आराधनासारके कर्ता काष्ठासंघी देवसेन। परंतु हमारा अनुमान है कि इस ग्रंथके कर्ता वि० सं० ११०में होनेवाले नंदिसंघीय देवसेन ही होने

चाहिये क्योंकि जिसप्रकार उनके भावसार दर्शनसार ग्रंथ प्राकृतके हैं उसीप्रकार उनका यह आराधनासार ग्रंथभी प्राकृतका हो सक्ता है। यद्यपि दिगंबरजैनग्रंथकर्ता और उनके ग्रंथ इस पुस्तकमें इन देवसेनके ग्रंथोंमें आराधनासारका नाम नहीं परंतु भूलसे वह छूटा जासका भी है। चतुर्थ देवसेन जो काष्ठासंघीय हो गये हैं उनका भी आराधनासार ग्रंथ है परंतु वह संस्कृतका है। क्या करें सामग्रीका अभाव यथार्थ निर्णयमें बाधक है।

हमने जो यह अनुवाद किया है वह मुद्रित ग्रंथके आधारसे ही किया है तथा टीकाके श्लोकोंके संशोधनमें जिन जिन ग्रंथोंके ये श्लोक हैं उन ग्रंथोंको देखकर विशेष सावधानी रक्खी है तथापि प्रमादवश कहीं स्खलना जान पडे तो वह हमें अवश्य सूचित करें यह विद्वानोंकी सेवामें प्रार्थना है।

भवदीय

गजाधरलाल।

आवश्यक सूचना।

महाशय !

आपका यह पूज्य धर्मशास्त्र है। इसे संस्थाने बहुत परिश्रम और व्यय उठाकर शुद्ध छापखाना खोलकर छपाया है इसमें और हाथके लिखेमें कोई भी अंतर नहीं है इसलिये सामान्य छपे कागजोंके समान इसे भी समझ घृणा तथा अविनय न करें। इसको शुद्ध देश, कालमें हाथ पैर धोकर सावधान हो पढें पढावें।

आराधनासारके गाथाओंकी सूची।



सनातनजैनग्रंथमाला ।

१८

श्रीमद्देवसेनाचार्यविरचित

आराधनासार ।

(हिंदीटीकासहित)

विमलयरगुणसमिद्धं सिद्धं सुरसेणवंदियं सिरसा ।
णमिऊण महावीरं वोच्छं आराहणासारं ॥ १ ॥

छाया——विमलतरगुणसमृद्धं सिद्धं सुरसेनवदितं (द्विजं) शिरसा ।
नत्वा महावीर वक्ष्ये आराधनासारं ॥ १ ॥

अर्थ–जो वर्धमान भगवान अगणित उत्तमोत्तम निर्मलगुणोंसे देदीप्यमान हैं। सिद्ध-प्रसिद्ध हैं और सौधर्म आदि इंद्रोंद्वारा भक्तिभावसे वंदित हैं उन्हें मस्तक नमाकर मैं (ग्रंथकार) आराधनासार ग्रंथका प्रारंभकरता हूं। भावार्थ–इस श्लोकमें 'विमलतर-गुणसमृद्धं' इस पदसे ग्रंथकारने यह बतलाया है कि वैसे तो शुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षा समस्त जीव समान हैं-सबोंमें समान गुण मोजूद हैं परतु जिसमें वे गुण अपने स्व-च्छस्वरूपको धारणकर प्रकट होगये हैं वही जीव माननीय पूज्य और हितकारी होता है। भगवान महावीरमें वे गुण सर्वथा निर्मल और प्रकट हैं इसलिये वे आदरणीय और नमस्कारके योग्य हैं। सिद्ध इस विशेषणसे यह बतलाया है कि भगवान महावीर कल्पित नहीं प्रसिद्ध हैं समस्त विद्वान, भगवान महावीरकी उत्पत्तिको स्वीकार करते हैं। यद्यपि सिद्ध शब्दका अर्थ कृतकृत्य अष्टकर्मरहित परमात्मा भी है परंतु यहांपर भगवानकी जीवन्मुक्त-अर्हंत अवस्थाका ग्रहण किया है क्योंकि उनकी सिद्ध अवस्था-से अर्हंत अवस्था हमारेलिये अधिक प्रयोजनीय है। 'सुरसेनवंदितं' इस पदसे ग्रंथका-

रने भगवान महावीरकी अचिंत्य विभूति बतलाई है अर्थात् साधारण पुरुषोंकी तो क्या बात? बड़े २ इंद्र भी उनके सेवक हैं। सुरसेनका अर्थ देवसेन भी है इसलिये ग्रंथकारने अपना नाम भी प्रकट किया है और यह झलकाया है कि भगवानमें मेरी पूरी २ भक्ति है-मैं उनको परमपूज्य समझता हूं। यहांपर गाथाके तीन चरणोंसे तो ग्रंथकारने नमस्कारात्मक मंगलाचरण प्रकट किया है और चौथे चरणसे आराधनासार ग्रंथकरनेकी प्रतिज्ञा सूचित की है।

सिद्धं इस पदको विशेष्य मानकर अन्य पदोंको विशेषण मान लिया जाय तो 'अनंतकेवलज्ञान आदि गुणोंसे भूषित एवं कर्मरूपी बलवान शत्रुओंके नाश करनेवाले प्रबल सुभट सिद्ध-परमात्माको मस्तक झुका नमस्कार कर सम्यग्दर्शन-आदि चारों आराधनाओंको कहूंगा' यह अर्थ होता है ॥ १ ॥

सुरसेनवंदियं इस पदका 'सुरसे नवं द्विजं' यह पदच्छेद करें तो-जिसप्रकार ब्राह्मण गंगा आदिके जलमें स्नान करते हैं उसीप्रकार जो सिद्ध भगवान स्वस्वभावरूप अमृत-जलमें स्नान करनेवाले हैं उन्हें नमस्कार कर, यह भी अर्थ हो जाता है। अथवा 'नवं'

की जगह अनवं यह पद मानलें तो जो सिद्ध भगवान द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा अनादिकालसे स्वस्वभावरूप जलमें मग्न हैं उन्हें नमस्कारकर यह भी अर्थ हो जाता है।

अथवा द्विज शब्दका अर्थ पक्षी भी है और नवका अर्थ उत्तम है इसलिये 'सुरसे नव द्विजं' इसी पदच्छेदसे—जिसप्रकार सुरस—मानस सरोवरमें हंस पक्षी किलोल करता है उसीप्रकार जो सिद्ध भगवान मोक्षरूप मानस सरोवरमें सुखानुभव करते हैं उनको नमस्कारकर, यह भी अर्थ है।

अथवा रस शब्दका अर्थ वीर्य भी है और जिसमें शोभन वीर्य-बल हो वह सुरस है इस अर्थसे रौद्रध्यानी सुभटोंका ग्रहण न कर कर्मरूप शत्रुओंके जीतनेवाले मुनि समूहका ग्रहण किया है इसलिये जो सिद्ध भगवान मुनि समुदायसे वंदित हैं उन्हें नमस्कारकर, यह भी अर्थ है।

अथवा सुरसका अर्थ राग भी है और जिनके आस्तिक्य अनुकंपा आदि रूप शोभन राग हो वे सुराग अर्थात् सराग सम्यग्दृष्टि हैं इसलिये जो सिद्ध भगवान सराग सम्यग्दृष्टियोंसे वंदित हैं उन्हें नमस्कारकर, यह भी अर्थ है।

अथवा 'सुरसेण वदियं' इसका सुरसेन वंदितं यह पदच्छेदकर तथा सुरसका अर्थ

हलाहल विष-कर्म 'दित'का अर्थ रहित और 'वं' का अर्थ मुक्तिका स्वामी मानलें तो जो
सिद्ध भगवान समस्त कर्मोंसे रहित मोक्षके स्वामी हैं उन्हें नमस्कारकर, यह भी अर्थ है।
अथवा रसका अर्थ धातु भी है और जिसमें शोभन धातुयें हो वह उत्तम शरीर
कहा जाता है इसलिये जो सिद्ध भगवान सुरस-शरीरसे दित रहित और व-मोक्षल-
क्ष्मीके स्वामी हैं उन्हें नमस्कारकर, यह भी अर्थ है।
अथवा-रस शब्दके प्राण और तिक्त आदि रस भी अर्थ हैं इसलिये जो सिद्ध भग-
वान सुरस इंद्रिय आदि दश प्राणों और तिक्त आदि इंद्रियोंके विषयोंसे दित-पराङ्मुख हैं
और व-मोक्ष लक्ष्मीके स्वामी हैं उन्हें नमस्कारकर, यह भी अर्थ है।
अथवा-रसका अर्थ द्रव्य परिणाम भी है इसलिये जो सिद्ध भगवान शुद्धद्रव्यके
गुणपर्यायोंके परिणमन स्वभावसे समृद्ध हैं अर्थात् जिनके गुण पर्यायोंका सदा प-
रिणमन होता रहता है उन्हें नमस्कारकर यह भी अर्थ है।
अथवा-रस शब्दका पारद (पारा और पारको देनेवाला) भी अर्थ है और सं-
सार समुद्रसे पार करनेवाला चारित्र है इसलिये जो सिद्ध भगवान शोभन चारित्रके
धारण करनेवाले आचार्योंसे वंदित हैं उन्हें नमस्कारकर, यह भी अर्थ है।

आराहणाइसारो तवदंसणणाणचरणसमवाओ ।
सो दुब्भेओ उत्तो ववहारो चेव परमट्ठो ॥ २ ॥

आराधनादिसारस्तपोदर्शनज्ञानचरणसमवायः ।
स द्विभेद उक्तो व्यवहारश्चैव परमार्थः ॥ २ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और तप इनका जो समूह है वही आराधनासार है और वह निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो प्रकारका है। भावार्थ—यहां पर आराधनासार लक्ष्य, तप सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका समुदाय लक्षण है अर्थात् जो पदार्थ तप सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रस्वरूप हो वही आराधनासार है और उसके व्यवहार आराधनासार और निश्चय आराधनासार ये दो भेद हैं ॥ २ ॥ अब व्यवहार आराधनासारका स्वरूप कहते हैं—

ववहारेण य सारो भणिओ आराहणाचउक्कस्स ।
दंसणणाणचरित्तं तवो य जिणभासियं णूणं ॥ ३ ॥

व्यवहारेण चं सारो भणित आराधनाचतुष्कस्य ।
दर्शनज्ञानचरित्र १पश्च जिनभाषित नून ॥ ३ ॥

अर्थ–भगवान जिनेंद्रने चारो आराधनाओंका सार व्यवहार नयसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप बतलाया है। भावार्थ--जबतक परम विशुद्ध परमब्रह्मस्वरूप वीतराग अवस्थाकी प्रकटता न हो-सराग अवस्था बनी रहै तबतक जैन शास्त्रमें जिसप्रकार जीव अजीव आदि पदार्थोंका स्वरूप बतलाया गया है उनका वैसा ही श्रद्धान और ज्ञान करना तथा राग द्वेष आदिकी निवृत्तिका उपाय करना और अनशन आदि तपोंका आचरण करना सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और तप स्वरूप व्यवहार आराधनासार है किंतु जिससमय परमब्रह्म परमात्मा अवस्था प्रकट हो जाय उससमय सम्यग्दर्शन आदिमें तन्मय होजाना निश्चय सम्यग्दर्शन आदि स्वरूप ही आराधनासार है इसलिये भगवान जिनेंद्रका मत है कि व्यवहारनयसे जीव अजीव आदिका यथार्थरूपसे श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन आराधना, उनका भलेप्रकार ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान, राग द्वेष आदिकी निवृत्तिका उपाय करना सम्यक्चारित्र और अनशन अवमोदर्य आदि तपोंका आचरण करना तप आराधना है । कहा भी है—

ज्ञानदर्शनचारित्रतपोभिर्जिनभाषितैः ।
आराधनाचतुष्कस्य व्यवहारेण सारता ॥

अर्थात् जिन ज्ञान दर्शन चारित्र और तपका भगवान जिनेंद्रने प्रतिपादन किया है वही चारो प्रकारका आराधनासार है । भगवान जिनेंद्रके वचन असत्य नहिं माने जासकते क्योंकि वे राग द्वेप रहित हैं-और रागद्वेपरहित मनुष्य कभी मिथ्या नहिं बोल सकता जैसाकि कहा है—

रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतं ।
यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं नास्ति ।

अर्थात्—राग द्वेप और मोह, झूठके बुलानेमें कारण हैं इसलिये जिनके राग द्वेप और मोह नहीं उनके झूठ बोलनेका कोई कारण भी विद्यमान नहीं–वे कभी झूठ नहिं बोल सकते ॥ ३ ॥ अब व्यवहार सम्यग्दर्शन आराधनाका स्वरूप कहते हैं—

भावाणं सद्दहणं कीरइ जं सुत्तउत्तजुत्तीहिं ।
आराहणा हु भणिया सम्मत्ते सा मुणिंदेहिं ॥ ४ ॥

भावानां श्रद्धानं क्रियते यत्सूत्रोक्तयुक्तिभिः ।
आराधना हि भणिता सम्यक्त्वे सा मुनींद्रैः ॥ ४ ॥

अर्थ—शास्त्रमें बतलाई गई युक्तियोंसे जो जीव अजीव आदि भावों-पदार्थोंका निश्चलरूपसे श्रद्धान करना है वह सम्यक्त्व-सम्यग्दर्शन आराधना है । भावार्थ—जीव अजीव आस्रव बंध संवर निर्जरा मोक्ष पुण्य और पापके भेदसे भाव—पदार्थ नौ प्रकारके हैं । जिनमें जानने और देखनेकी शक्ति विद्यमान हो वह जीव, जिसमें यह शक्ति विद्यमान न हो वह अजीव, मन वचन कायकी क्रियासे कर्मोंका आना आस्रव, जीव और कर्मके प्रदेशोंका आपसमें नीरक्षीरके समान मिलजाना बंध, आस्रवका निरोध संवर, एकदेशरूपसे कर्मोंका क्षय होना निर्जरा, कर्मोंका सर्वथा नाश हो जाना मोक्ष, शुभ आयु नाम और गोत्र पुण्य और इससे भिन्न पाप है । ये जीव आदि पदार्थ जिसप्रकार भगवान जिनेंद्रने प्रतिपादन किये हैं उनका उसीप्रकारसे श्रद्धान-विश्वास करना सम्यग्दर्शन कहा जाता है । सम्यग्दर्शनका विरोधी मिथ्यात्व—मिथ्यादर्शन है उसके उदयसे जीवके परिणाम सदा विपरीत रहते हैं और वह अगृहीत एवं गृहीतके भेदसे दो प्रकारका है। जो मिथ्यात्व गृहीत न हो—स्वभावसे ही हो उसे अगृहीत मिथ्यात्व

कहते हैं और वह एकेंद्रियसे लेकर पंचेंद्रियपर्यंत जीवमात्रके होता है। तथा जो मिथ्यात्व मिथ्या शास्त्रोंके अध्ययनसे वा मिथ्यात्वी गुरुओंके संसर्गसे हो वह गृहीत मिथ्यात्व है और वह हरएक पंचेंद्रियके न होकर विशिष्ट पंचेंद्रियके होता है। गृहीत मिथ्यात्वके एकांत विपरीत विनय संशय और विपर्यय ये पांच भेद हैं। वस्तुमें अनेक धर्मोंके रहनेपर भी किसी एक धर्मको मुख्य मानकर उसीका श्रद्धान करना एकांत मिथ्यात्व है। सग्रंथको निर्ग्रंथ, धर्मिष्ठोंको पापी, केवलीको कवलाहारी और स्त्रीकी मोक्ष मानना आदि विपरीत मिथ्यात्व है। कोई सर्वज्ञ हुये हैं या नहीं, मोक्ष कोई पदार्थ है या नहीं? इसप्रकारका संदेहरूप श्रद्धान करना संशय मिथ्यात्व है। सब प्रकारके देव कुदेवोंको और समस्तप्रकारके दर्शनोंको एक ही मानना विनयमिथ्यात्व एवं हित अहितकी परीक्षारहित श्रद्धान करना अज्ञान मिथ्यात्व है।

सम्यग्दर्शन निसर्ग और अधिगम दो कारणोंसे होता है। काललब्धि आदिके प्राप्त हो जानेपर जो सम्यग्दर्शन स्वभावसे ही प्रकट होजाय वह निसर्गज और जो गुरु आदिके उपदेश वा शास्त्रके स्वाध्याय अध्ययन आदिसे हो वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है। वास्तवमें निसर्गज सम्यग्दर्शनमें भी पूर्व जन्मका गुरु आदिका उपदेश वा

शास्त्रस्वाध्याय आदि ही कारण हैं इसलिये अधिगम ही सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें मुख्य निमित्त है ।

जब तक चारित्रमोहनीय कर्मकी अनंतानुबंधी क्रोध, अनंतानुबंधी मान, अनंतानुबंधी माया और अनंतानुबंधी लोभ ये चार प्रकृतियों और दर्शनमोहनीयकी सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व इन तीन प्रकृतियों-सब मिलाकर सात प्रकृतियोंका उदय रहता है तबतक कैसा भी सम्यक्त्व प्रकट नहिं होता किंतु जिसप्रकार गदले जलमें फिटकिरी आदि द्रव्यके डालनेसे मिट्टीका उपशम होजाता है वह नीचे बैठ जाती है, पानी स्वच्छ हो जाता है उसीप्रकार जिससमय उक्त सातों मोहनीय कर्मकी प्रकृतियोंका उपशम होजाता है उससमय आत्मामें औपशमिक सम्यक्त्वकी प्रकटता होती है । जिसप्रकार फिटकिरी आदि पदार्थके संबंधसे मिट्टीके सर्वथा नीचे बैठ जानेपर उस बर्तनका जल दूसरे बर्तनमें लेनेसे मिट्टी सर्वथा नष्ट हो जाती है और पानी सर्वथा स्वच्छ हो जाता है उसीप्रकार जिससमय उक्त प्रकृतियोंका सर्वथा क्षय हो जाता है उससमय क्षायिक सम्यक्त्वका उदय होता है और जिसप्रकार अध गदले जलमें कुछ मिट्टीका उपशम और कुछका क्षय रहता है उसीप्रकार जिस-

समय कुछ उक्त प्रकृतियोंका उपशम और कुछका क्षय हो उससमय क्षायोपशमिक
सम्यक्त्व होता है इसलिये प्रकृतियोंके उपशम क्षय किंवा क्षयोपशम परिणामोंसे
सम्यक्त्वके औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिक ये तीन भेद हो जाते हैं।
यदि यहांपर यह शंका हो कि जब अनंतानुबंधी चौकडी और सम्यक्त्व मिथ्यात्व
और मिश्र इन तीन प्रकृतियोंके उपशमसे औपशमिक सम्यक्त्व होता है तब जो जीव
अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य है और जिसकी आत्मापर भरपूर कर्मकी कालिमा जम रही
है उसके कैसे तो प्रकृतियोंका उपशम होता है ? और कैसे वह औपशमिक
सम्यक्त्वका धारक बनता है ? तो उसका उत्तर यह है कि–औपशमिक सम्यक्त्वके
दो भेद हैं एक प्रथमौपशमिक सम्यक्त्व दूसरा द्वितीयौपशमिकसम्यक्त्व । उनमें
काललब्धि आदि निमित्त कारणोंके मिलजानेपर अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य प्रथमौ-
पशमिक सम्यक्त्वका लाभ कर सकता है। काललब्धिके कई भेद हैं उनमें जिससमय
कर्मसहित भव्य जीवके अर्धपुद्गलपरिवर्तन परिमाण काल संसारमें घूमनेका बाकी रह-
जाता है अधिक नही उससमय वह प्रथमौपशमिक सम्यक्त्वको ग्रहण कर सकता है एक तो
यह काल लब्धि है। दूसरी काललब्धि कर्मोंकी स्थितिके आधीन है अर्थात् जिस जीवके

उत्कृष्ट कर्मोंकी स्थिति बंधती हो और उनकी सत्ता अवश्य हो तथा कर्मोंकी जघन्यस्थिति भी बंधती हो और उनकी सत्ता भी हो उसके प्रथमोपशम सम्यक्त्वका लाभ नहिं होता किंतु जिससमय अंतःकोडाकोडी सागरके भीतरकी स्थितिवाले कर्मोंका बंध हो और परिणामोंकी विशुद्धतासे कोडाकोडी सागरके भीतर स्थिति बंधवाले कर्मोंकी भी सत्ता संख्यात हजार सागर और भी कम रहजाय उससमय प्रथमोपशम सम्यक्त्वके ग्रहणकी योग्यता होती है। तीसरी काललब्धि भवकी अपेक्षा है अर्थात् जो जीव भव्य पंचेंद्रिय पर्याप्तक और सर्वविशुद्ध होगा वही प्रथम सम्यक्त्व प्राप्त करसकता है अन्य नहीं। इसके सिवा प्रथमौपशमिकसम्यक्त्वकी प्राप्तिमें जातिस्मरण जिनबिंबदर्शन और वेदना आदि भी कारण हैं तथा अनादिमिथ्यादृष्टि भव्यके उपर्युक्त सात प्रकृतियोंमेंसे सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वके सिवा पांच प्रकृतियोंके उपशमसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है और सादि मिथ्यदृष्टिके सातो प्रकृतियोंके उपशमसे होता है।

समस्त नरकोंकी भूमियोंमें पर्याप्तक नारकियोंके क्षायिक और क्षायोपशमिक दोनोंप्रकारका सम्यक्त्व होता है। प्रथम नरकमें पर्याप्त अपर्याप्तक दोनोंप्रकारके

नारकियोंके क्षायिक और क्षायोपशमिक दोनोंप्रकारका सम्यक्त्व होता है । तिर्यंच
गतिमें पर्याप्तक तिर्यंचपुरुषोंके औपशमिक सम्यक्त्व और पर्याप्तक अपर्याप्तक दोनों ति-
र्यंचपुरुषोंके क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है किंतु तिर्यंच स्त्रियोंके क्षा-
यिक न होकर औपशमिक और क्षायोपशमिक ही होता है और वह भी पर्याप्तकोंके
ही होता है अपर्याप्तकोंके नही । मनुष्य गतिमें पर्याप्तक अपर्याप्तक दोनों प्रकारके म-
नुष्योंमें क्षायिक और क्षायोपशमिक दोनोंप्रकारका सम्यक्त्व होता है किंतु औपशमिक
सम्यक्त्व पर्याप्तकोंके ही होता है अपर्याप्तकोंके नहीं । तथा पर्याप्तक मानुषी स्त्रियोंके तीनों
प्रकारका सम्यक्त्व होता है अपर्याप्तकोंके नही उसमें क्षायिक सम्यक्त्वका होना भाव-
वेदसे माना है द्रव्यवेदसे नहीं । देवगतिमें पर्याप्तक अपर्याप्तक दोनोंप्रकारके देवोंके
तीनों सम्यक्त्व होते हैं यदि कहो कि-अपर्याप्तकोंके औपशमिक कैसे होता है तो
ठीक नहीं क्योंकि जो चारित्र मोहनीयके उपशमके साथ उत्पन्न होते हैं उनकी अपे-
क्षा वचन है तथा भवनवासी व्यंतर और ज्योतिषी देव और उनकी देवांगनाओंके
तथा सौधर्म और ईशान स्वर्गोंकी देवियोंके क्षायिक सम्यक्त्व नहिं होता एवं उनमें
पर्याप्तकोंके ही औपशमिक और क्षायोपशमिक दोनों प्रकारका सम्यक्त्व होता है ।

सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें अभ्यंतर और वाह्य दो कारण हैं उनमें अभ्यंतर कारण तो दर्शन मोहनीयका उपशम क्षय किंवा क्षयोपशम है और वाह्य कारण चौथे नरकसे पहिले नरकोंमें रहनेवाले नारकियोंके जातिस्मरण धर्म श्रवण और वेदना आदि है। एवं नरककी चौथी पृथ्वीसे सातवीं पृथ्वीतकके नारकियोंके जातिस्मरण और वेदनासे सम्यक्त्व होता है। मनुष्य और तिर्यंचोंमें किन्हींको जातिस्मरण किन्हीको जिनविंव-दर्शन और किन्हींको वेदनासे सम्यक्त्व होता है। आनत स्वर्गसे पहिले १२ स्वर्गोंमें रहनेवाले देवोंको जातिस्मरणसे, धर्मश्रवणसे, जिनेंद्रकी महिमाके देखनेसे और अन्य देवोंकी ऋद्धिके देखनेसे सम्यक्त्व होता है। आनत प्राणत आरण और अच्युत स्वर्गके देवोंके, दूसरे देवोंकी ऋद्धिदर्शनके विना जातिस्मरण धर्मश्रवण और जिनेंद्रकी महिमाके देखनेसे सम्यग्दर्शन होता है। नव ग्रैवेयकोंमें रहनेवाले देवोंमें किसीको जातिस्मरणसे सम्यक्त्व होता है तो किसीको धर्मश्रवणसे होता है। अनुदिश और अनुत्तर विमानमें देव सम्यक्त्वसहित ही उत्पन्न होते हैं इसलिये वहां सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें कोई कारण नहीं।

सम्यक्त्वका आधार भी वाह्य और अभ्यंतरके भेदसे दो प्रकारका है उसमें स-

म्यक्त्वका अभ्यंतर आधार तो उसका स्वामी आत्मा ही है और बाह्य आधार एक राजू चोडी और चौदह राजी लंबी लोकनाडी है।

औपशमिक सम्यक्त्वकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अंतर्मुहूर्तकी है। क्षायिककी संसारी जीवके जघन्य तो अंतर्मुहूर्तकी है। उत्कृष्ट-अंतर्मुहूर्त सहित आठ वर्षकम दो पूर्व-कोटी अधिक तेतीस सागरकी है और सिद्धोंके क्षायिक सम्यक्त्वकी स्थिति सादि अनंत है एवं क्षायोपशमिक सम्यक्त्वकी जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट छ्यासठ सागर प्रमाण है।

स्वभावसे तो सम्यग्दर्शन एक ही प्रकारका है किंतु निसर्गज और अधिगमजके भेदसे उसके दो भेद और औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिकके भेदसे तीन भेद हो जाते हैं इसप्रकार श्रद्धाता-पुरुष और श्रद्धातव्य पदार्थके भेदसे सम्यग्दर्शनके संख्यात असंख्यात और अनंत भेद भी होसकते हैं।

पचीस मलोंसे रहित जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान ही व्यवहार सम्यग्दर्शन नामकी यथार्थ आराधना कही जाती है इसलिये जबतक लोकमूढता देवमूढता और गुरु मूढता ये तीन मूढता, शंका कांक्षा विचिकित्सा मूढदृष्टिता अनुपगूहनता अस्थितिकरण अवात्स

ना और अप्रभावना ये आठ दोष, ज्ञानमद पूजामद कुलमद जातिमद बलमद ऋद्धिमद तपमद और शरीरमद ये आठमद, मिथ्यादेव, मिथ्यादेवोंके आराधक, मिथ्यातप, मिथ्यातपस्वी, मिथ्या आगम और मिथ्याआगमके ज्ञाताओंकी सेवा करना ये छै अनायतन इसप्रकार पच्चीस मलोंकी सत्ता रहती है तब तक निर्दोष सम्यक्त्व नहिं पल सकता।

लोगोंकी देखा देखी सुना सुनी धर्म मानकर नदी समुद्रोंमें स्नान करना, बालू आदिके ढेरे बनाकर उन्हें पूजना, पर्वतसे गिरना और अग्निमें जलकर नष्ट होनाआदि लोकमूढ़ता है। मुझे पुत्रकी प्राप्ति हो, धन मिले, उत्तम स्त्री मिले आदि आशासे रागी द्वेषी देव देवियोंकी भक्ति भावसे उपासना करना देवमूढ़ता और आरंभ परिग्रहोंके धारक जीवोंको संसार चक्रमें घुमानेवाले पाखंडी गुरुओंकी सेवा शुश्रूषा करना गुरुमूढ़ता है।

सर्वज्ञप्रतिपादित आगममें संदेह करना शंका, पापकी कारण राजविभूति देव विभूति आदि विभूतियोंकी अभिलाषा करना कांक्षा, रत्नत्रयके धारक मुनियोंके वा अन्य जीवोंके फोडा फुंसी आदिसे बहते हुये पीब आदिको देखकर घृणा करना विचिकित्सा, जो लोग कुमार्गगामी हैं उनकी कीर्ति वा प्रशंसा करना किंवा उनसे संबंध रखना मूढदृष्टिता, पवित्र धर्म मार्गके अनुसार अपने चलनेकी सामर्थ्य न होनेसे उसकी निंदा

करना, हंसी उड़ाना किंवा उसके आराधकोंके दोष प्रकट करना अनुपगूहन, जो मनुष्य किसी खास कारणसे सम्यग्दर्शन वा चारित्र आदिसे विमुख हों उन्हें और भी पवित्र धर्मके दोष सुझाकर विमुख करना अस्थितिकरण, धर्मात्माओंमें प्रीति न करना उन्हें घृणाकी दृष्टिसे देखना अवात्सल्य और जिन कार्योंसे धर्मकी प्रभावना होती हो उन-कार्योंका बंद करदेना अप्रभावना है।

ज्ञानका अहंकार करना ज्ञानमद, पूजाका अहंकार करना पूजामद, अपने कुलका अहंकार करना कुलमद, जातिका अहंकार करना जातिमद, बलका अहंकार करना ब-लमद, ऋद्धि-धन आदिका अहंकार करना ऋद्धिमद, तपका अहंकार करना तपमद और शरीरका अहंकार करना शरीरमद है।

जो सम्यक्त्व आदि गुणोंका आयतन स्थान न होकर उससे विपरीत मिथ्यात्व आदि दोषोंका स्थान हो वह अनायतन कहा जाता है। रागद्वेष आदिसे परिपूर्ण देव मिथ्यादेव, उनकी सेवा शुश्रूषा करनेवाले मिथ्यादेवाराधक, पंचाग्नि आदि हिंसाके कारण तप मिथ्यातप, उसके करनेवाले मिथ्यातपस्वी, हितकारी मार्गसे भ्रष्ट-करनेवाले मिथ्याशास्त्र और उनके भक्त मिथ्याशास्त्राराधक हैं। इनकी सेवा शुश्रूषा

करना वा इन्हें उत्तम मानना अनायतनसेवा है। इन पच्चीस दोषोंके करनेसे सम्यग्दर्शन दूषित होता है ॥ अब संस्कृतटीकाकार व्यवहार सम्यग्दर्शन आराधनाका फल बतलाते हैं-

येनेदं त्रिजगद्वरेण्यविभुना प्रोक्तं जिनेन स्वयं
सम्यक्त्वाद्भुतरत्नमेतदमलं चाभ्यस्तमप्यादरात् ।
भंक्त्वा स प्रसभं कुकर्मनिचयं शक्त्या च सम्यक् पर-
ब्रह्माराधनमद्भुतोदितचिदानंदं पदं विंदते ॥

अर्थात्-तीन जगतमें महापुरुष भगवान जिनेंद्रद्वारा प्रतिपादित सम्यक्त्वरूप अद्भुत रत्नका जो मनुष्य बडे आदरसे अभ्यास करता है वह बलपूर्वक निंदित कर्मोंका सर्वथा नाशकर विलक्षण आनंदप्रदान करनेवाले परब्रह्माराधन-निश्चयसम्यग्दर्शन नामकी आराधनाको प्राप्त करलेता है अर्थात्-इस व्यवहार सम्यग्दर्शन आराधनासे उसे निश्चय सम्यग्दर्शन आराधनाकी प्राप्ति हो जाती है ॥ ४ ॥ अब व्यवहार ज्ञान आराधनाका स्वरूप कहते हैं-

सुत्तत्थभावणा वा तेसिं भावाणमाहिगमो जो वा ।
णाणस्स हवदि एसा उत्ता आराहणा सुत्ते ॥ ५ ॥

सूत्रार्थभावना वा तेषां भावानामधिगमो यो वा ।
ज्ञानस्य भवत्येषा उक्ता आराधना सूत्रे ॥ ५ ॥

अर्थ–परमागमके अर्थकी भावना करना वा उपर्युक्त जीव आदि भावोंका भले-
प्रकार ज्ञान करना व्यवहार ज्ञानाराधना है । भावार्थ- संशय विपर्यय और अनध्यव-
साय ये तीन मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान आराधनामें बाधक हैं अर्थात् जबतक यह जीव है
या अजीव ? इसप्रकार विरुद्ध अनेक कोटियोंका अवगाहन करनेवाला ज्ञान संशयज्ञान,
जीवको अजीव ही मानना वा अजीवको जीवही मानना इसप्रकार विपरीत एक को-
टिका निश्चय करानेवाला ज्ञान विपर्यय ज्ञान और यह कुछ है इसप्रकारका ज्ञान अ-
नध्यवसायज्ञानकी सत्ता आत्मामें विद्यमान रहती है तबतक जीव जीवही है किंवा
अजीव आदि अजीव आदि ही है इसप्रकारकी सम्यग्ज्ञान आराधनाका उदय नहिं हो-
ता किंतु जब संशय आदि मिथ्याज्ञान सर्वथा दूर हो जाते हैं उससमय सम्यग्ज्ञान आ-
राधनाका उदय होता है इसलिये जो पदार्थ जैसे हैं उन्हें वैसे ही मानना सम्यग्ज्ञान आरा-
धना है । मूलकारने परमागमकी भावना वा उक्त जीवादि पदार्थोंका अधिगम इसप्रकार
सम्यग्ज्ञान आराधनाके दो स्वरूप बतलाये हैं सो ठीक है क्योंकि जीव आदि पदार्थोंका

स्वरूप इतना गहन है कि विना परमागमका अवलंबन किये, सिवाय सर्वज्ञके दूसरा
कोई जान ही नहिं सकता इसलिये मूलकारने यह स्पष्ट करदिया है कि सर्वज्ञप्रतिपा-
दित-आगमके अनुसार जीवादि पदार्थोंका निश्चयात्मक ज्ञान सम्यग्ज्ञान आराधना है
अल्पज्ञानियों द्वारा रचेगये शास्त्रोंके अनुसार जीव आदि पदार्थोंका ज्ञान सम्यग्ज्ञान
आराधना नहिं बन सकता। अथवा जो ही परमागमकी भावना है वही जीवादि पदा-
र्थोंका अधिगम है दोनों एक हैं क्योंकि जीवादि पदार्थोंके स्वरूप वर्णनसे भिन्न परमागम
कोई पदार्थ नहीं और उसकी भावना जीवादि पदार्थोंके समूहके अधिगमसे भिन्न नहिं है।
इसलिये परमागमकी भावनासे ही सम्यग्ज्ञान आराधनाका स्वरूप मलूम पड़ जाता है
तथापि मूलकारने जो पुनः जीव आदि पदार्थोंका अधिगम सम्यग्ज्ञान भावना है यह
लिखा है वह स्पष्टताकेलिये ही किया समझना चाहिये। अब संस्कृत टीकाकार व्यवहार
सम्यग्ज्ञान आराधनाका फल कहते हैं—

सिद्धांते जिनभाषिते नवलसत्तत्त्वार्थभावाद्भुते
भावं यो विदधीत वाधिगमनं कुर्वीत तस्यानिशं।
भक्त्या स प्रसभं कुकर्मनिचयं भंक्त्वा च सम्यक्पर-
[illegible]राधनमद्भुतोदितचिदानंदं पदं विंदते॥

अर्थात्–जो मनुष्य भगवान जिनेंद्रद्वारा प्रतिपादित और नव पदार्थोंके वर्णनसे देदीप्यमान अद्भुत जैनसिद्धांतकी भक्तिपूर्वक भावना करता है अथवा सदा जीव आदि पदार्थोंका भलेप्रकार ज्ञान करता है वह समस्त निंदित कर्मोंका त्यागकर अद्भुत अनंतसुख प्रदान करनेवाली निश्चय सम्यग्ज्ञान आराधनाको प्राप्त करलेता है ॥ ५ ॥ अब ग्रंथकार व्यवहार सम्यक्चारित्र आराधनाका स्वरूप कहते हैं––

तेरहविहस्स चरणं चारित्तस्सेह भावसुद्धीए।
दुविहअसंजमचाओ चारित्ताराहणा एसा ॥ ६ ॥

त्रयोदशविधस्य चरण चारित्रस्येह भावशुद्ध्या।
द्विविधासयमत्यागश्चारित्राराधना एषा ॥ ६ ॥

अर्थ–भावोंकी विशुद्धतापूर्वक तेरह प्रकारके चारित्रका आचरण करना और दो प्रकारके असंयमका सर्वथा त्याग करदेना व्यवहार सम्यक्चारित्र आराधना है। भावार्थ–१ अहिंसामहाव्रत २ सत्यमहाव्रत ३ अचौर्यमहाव्रत ४ ब्रह्मचर्यमहाव्रत और ५ निष्परिग्रहमहाव्रत ये पांच महाव्रत, १ ईर्या २ भाषा ३ एषणा ४ आदाननिक्षेप

और ५ उत्सर्ग ये पांच समितियां और १ कायगुप्ति २ वचनगुप्ति एवं ३ मनोगुप्ति ये तीन गुप्तियां इसप्रकार सब मिलकर चारित्रके तेरह भेद हैं। मन वचन काय कृत कारित अनुमोदनासे सर्वथा हिंसाका त्यागना अहिंसामहाव्रत, सर्वथा झूठका त्याग करना सत्यमहाव्रत, सर्वथा चोरीका त्याग करना अचौर्यमहाव्रत, स्वस्त्री और परस्त्रीका सर्वथा त्याग करना ब्रह्मचर्यमहाव्रत और किसीप्रकारके परिग्रहमें लालसा न रखना निष्परिग्रहमहाव्रत है। सूर्योदयके पश्चात् जब कि नेत्र भलेप्रकार पदार्थोंको देखसकैं और तिर्यंच आदिके आवागमनसे मार्ग प्रासुक हो जाय उससमय जूड़ाप्रमाण जमीनको शोधकर चलना ईर्यासमिति, हितकारी और परिमित संदेहरहित प्रिय वचनोंका बोलना भाषासमिति, दिनमें एकवार निर्दोष आहार ग्रहण करना एषणा समिति, शरीर पुस्तक कमंडलु आदि उपकरणोंको नेत्रोंसे देखकर और पीछेसे शोधकर ग्रहण करने स्थापन करनेरूप प्रवृत्ति रखना आदाननिक्षेपणसमिति और त्रस स्थावर जीवोंको पीड़ा न हो ऐसी शुद्ध जंतु रहित भूमिपर मलमूत्र आदि क्षेपणकर प्रासुक जलसे शौच क्रिया करना उत्सर्ग समिति है। तथा कायकी प्रवृत्ति रोकना कायगुप्ति, वचनकी प्रवृत्ति रोकना वचनगुप्ति और मनकी प्रवृत्ति रोकना मनोगुप्ति है। कहा भी है—

महाव्रतानि पंचैव पंचैव समितीस्तथा ।
गुप्तीस्तिस्त्रश्च चारित्रे त्रयोदशविधं विदुः ॥

अर्थात्-पांच प्रकारका महाव्रत, पांच प्रकारकी समितियां और तीनप्रकारकी गुप्तियां सब मिलकर चारित्रके तेरह भेद हैं। मूलकारने तेरह प्रकारके चारित्रके आचरण करनेमें भावशुद्धिको प्रधान रक्खा है अर्थात् जबतक विशुद्धभावोंसे तेरह प्रकारके चारित्रका आचरण न किया जायगा तबतक पूर्णरूपसे व्यवहार सम्यक्चारित्र आराधना नहिं हो सकती। कहा भी है—

भावशुद्धिमबिभ्राणाश्चारित्रं कलयंति ये ।
त्यक्त्वा नावं भुजाभ्यां ते तितीर्षंति महार्णवं ॥

अर्थात्-जो मनुष्य विना भावविशुद्धिके चारित्रका आचरण करना चाहते हैं वे नावकी कुछ भी पर्वा न कर भुजाओंसे विशाल समुद्रको तरकर पार करना चाहते हैं। इसलिये भव्योंको चाहिये कि वे शीत वात आतप आदिके घोर उपसर्गके उपस्थित हो जानेपर भी परिणामोंमें किसीप्रकारकी ग्लानि न लावें और उन्हें विशुद्ध रखकर चारित्रका आचरण करें। केवल तेरह प्रकारके चारित्रका ही आचरण करना व्यवहार

चारित्र आराधना नहीं किंतु दो प्रकारके असंयमोंका त्याग करना भी चारित्र आराधना है। इंद्रियासंयम और प्राणासंयमके भेदसे असंयम दो प्रकारका है। स्पर्शन जीभ नाक आंख कान और मन इन छै इंद्रियोंकी स्पर्श रस गंध वर्ण शब्द विषयोंमें जो स्वेच्छाचार प्रवृत्ति है उसे इंद्रियासंयम कहते हैं और पृथिवी जल तेज वायु वनस्पति ये पांच प्रकारके एकेंद्रिय स्थावर जीव एवं दो इंद्रिय ते इंद्रिय चौ इंद्रिय और पंचेंद्रिय नामक त्रस जीवोंके प्राणोंको क्रोधादि प्रमादोंसे जो पीडा पहुंचाना है वह प्राणासंयम है। जैसा कि कहा है—

मनसश्चेंद्रियाणां च यत्स्वस्वार्थे प्रवर्तनं।
यदृच्छयेव तत्तज्ज्ञा इंद्रियासंयमं विदुः॥
स्थावराणां त्रसानां च जीवानां हि प्रमादतः।
जीवितव्यपरोपो यः स प्राणासंयमः स्मृत॥

अर्थात्–मन और पांचो इंद्रियोंकी अपने विषयमें स्वेच्छाचार प्रवृत्तिको इंद्रियासंयम, त्रस एवं स्थावर जीवोंके प्राणोंको प्रमादपूर्वक पीडा पहुंचानेको प्राणासंयम कहते हैं। इसप्रकार दोनोंप्रकारके असंयमोंका त्याग और तेरह प्रकारके चरित्रका निर्दोष प-

रिणामोंसे पालन करना व्यवहारचारित्र आराधना है। अब व्यवहार चारित्र आराधनाका संस्कृत टीकाकार फल बतलाते हैं—

द्वेधासंयमवर्जितं गुरुपदद्वंद्वाब्जसंसेवना-
दात्तं यश्चिनुते त्रयोदशविधं चारित्रमत्यूर्जितं।
भक्त्या स प्रसभं कुकर्मनिचयं भंक्त्वा च सम्यक्पर-
महाराधनमद्भुतोदितचिदानंदं पदं विंदते ॥

अर्थात्–जो महानुभाव इंद्रियासंयम और प्राणासंयम दोनोंप्रकारके असंयमोंसे रहित गुरुके चरणकमलोंके सेवनसे प्राप्त देदीप्यमान तेरहप्रकारके चारित्रका भक्तिपूर्वक आचरण करता है वह पुरुष निंदित कर्मोंका सर्वथा नाशकर अद्भुत अनंद प्रदान करनेवाली परब्रह्माराधना-निश्चय चारित्र आराधनाको प्राप्त करता है ॥ ६ ॥ अब व्यवहार तप आराधनाका स्वरूप बतलाते हैं—

बारहविहतवयरणे कीरइ जो उज्जमो ससत्तीए।
सा भणिया जिणसुत्ते तवम्मि आराहणा णूणं ॥ ७ ॥

द्वादशविधतपश्चरणे क्रियते य उद्यम· स्वशक्त्या ।
सा भणिता जिनसूत्रे तपसि आराधना नून ॥ ७ ॥

अर्थ–शक्तिके अनुमार जो वारह प्रकारके तपके आचरण करनेमें उद्यम करना है वह व्यवहार तप आराधना है । भावार्थ–वाह्य और अभ्यंतरके भेदसे तप दो प्रकारका है। १ अनशन २ अवमोदर्य ३ वृत्तिपरिसंख्यान ४ रसपरित्याग ५ विविक्त शय्यासन ५ और कायक्लेश ये छै वाह्य तपके भेद हैं और १ प्रायश्चित २ विनय ३ वैय्यावृत्य ४ स्वाध्याय ५ व्युत्सर्ग और ६ ध्यान ये छैं भेद अभ्यंतर तपके हैं। कीर्त्ति लाभ आदिकी इच्छा न कर संयमकी सिद्धि, रागभावोंका उच्छेद, कर्मोका विनाश, ध्यान स्वा यायकी वढवारी और इद्रियोंका दमन किं वा उनके जीतनेके लिये भोजनका त्याग करना अनशन तप है । संयम आदिकी सिद्धिकेलिये वा ध्यानकी निश्चलता आदिके लिये अल्प भोजन करना अवमोदर्य है । ऐसी प्रतिज्ञाकर कि एक वा पांच सात घर ही जाऊंगा, अथवा एक वा दो ही मुहल्लामें जाऊंगा वा मार्ग और मैदानमें ही भोजन मिलेगा तो लूंगा नगरमें न जाऊंगा आहारके लिये वनसे निकलना और नियमानुसार आहार न मिलनेपर पुनः वनमें आकर उपवास धारण कर-

लेना वृत्तिपरिसंख्यान तप है । इंद्रियोंके दमन, संयमकी रक्षा और लालसाके दूर करनेकेलिये घृत दुग्ध तैल गुड लवण आदि रसोंका त्याग करना रसपरित्याग तप है । जीवोंकी रक्षार्थ प्रासुक क्षेत्रमें और पर्वत गुफा मठ वनखंड आदि स्थानोंमें जहां कि ब्रह्मचर्य स्वाध्याय ध्यान अध्ययन आदिमें विघ्न न आवे शयन वा आसन करना विविक्तशयनासन और शरीरमें ममत्व न रखकर कायको क्लेश पहुंचानेवाले तपोंका करना कायक्लेश तप है । प्रमादसे लगे हुये दोषोंकी शुद्धि करना प्रायश्चित्ततप है । पूज्य पुरुषोंका आदर सत्कार विनय तप, मुनियोंकी सेवा टहल करना वैय्यावृत्त्य तप, ज्ञानाराधनमें आलस्यको त्यागकर ज्ञानाध्ययन करना करावना वा अन्यको उपदेश देना स्वाध्यायतप, वाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग करना व्युत्सर्गतप और चित्तविक्षेप आदिका त्याग करना ध्यानतप है । इन छै प्रकारके तपोंके आचरण करनेमे मूलकारने 'स्वशक्त्या' पद दिया है उसका तात्पर्य यह है कि जितनी शक्ति हो उसीके अनुसार तपोंका आचरणकरै शक्तिसे अधिक तप आचरणकी आवश्यकता नहीं क्योंकि उससे हानि हो जाती है जैसा कि कहा है—

तं चि तवो कायव्वो जेण मणोऽमंगल ण चिंतेई ।

जेण ण इंदियहाणी जेण य जोगा ण हायंति ॥

अर्थात्-तप उतनाही करना उचित है-जिससे मन वश रहै अमंगलका चितवन न कर सकै। इद्रियां भी समर्थ वनी रहैं और शरीर मन एवं वचन पूर्णरूपसे अपना काम कर सकैं। सम्यग्दर्शन आदि आराधनाओंके समान तप आराधना भी परम कार्यकारिणी है क्योंकि जबतक इसका आराधन न किया जायगा तबतक कदापि कर्मोंका नाश नहिं हो सकता और विना कर्मोंके नाशके मोक्षकी प्राप्ति नहिं हो सकती। कहा भी है-

निकाचितानि कर्माणि तावद्भस्मीभवंति न।
यावत्प्रवचनप्रोक्तस्तपोवह्निर्न दीप्यते ॥ २ ॥

अर्थात्-जबतक शास्त्रानुसार तपरूपी अग्नि प्रदीप्त नहि होती-अपनी उग्र ज्वालासे नहिं लहलहाती तबतक कर्मोंका समूह भस्म नहिं हो सकता। तथा जो पाक्षिक श्रावक निश्चयनयके जिज्ञासु हैं उन्हें भी अप्रमत्त होकर चारों प्रकारकी व्यवहार आराधना अवश्य आराधनीं चाहिये क्योंकि विना व्यवहार आराधनाके निश्चय आराधनामें प्रवृत्ति नहिं हो सकती। जैसा कि कहा है-

जीवोऽप्रविश्य व्यवहारमार्गं न निश्चयं ज्ञातुमुपैति शक्तिं ।
प्रभाविकाशेक्षणमंतरेण भानूदयं को वदते विवेकी ॥

अर्थात्–जिसप्रकार प्रकाशयुक्त दिशाओंके देखनेके विना कोई विद्वान सूर्यके उदयका निश्चय नहि कर सकता उसीप्रकार विना व्यवहार मार्गका अवलंबन किये निश्चयके जाननेकी भी सामर्थ्य नहिं प्राप्त हो सकती । अब संस्कृत टीकाकार तप आराधनाका फल कहते हैं–

षोढाभ्यंतरषड्विधोत्तरतपस्यर्हद्वरैर्भाषिते
शक्तिं स्वामनुपेक्ष्य यो वितनुते चारित्रपानोद्यमं।
भक्त्या स प्रसभं कुकर्मनिचयं भंक्त्वा च सम्यक्पर–
ब्रह्माराधनमद्भुतोदितचिदानंदं पदं विंदते ॥

अर्थात्–भगवान जिनेंद्र द्वारा प्रतिपादित छै प्रकारके अभ्यंतर और छै प्रकारके वाह्य इसप्रकार बारहप्रकारके तपका जो महानुभाव अपनी शक्तिके अनुसार आचरण करता है वह निंदित कर्मोंका नाशकर अद्भुत आनंद प्रदान करनेवाली परब्रह्माराधना-निश्चय सम्यक् तप आराधनाको प्राप्तकर लेता है ॥७॥ अब निश्चय आराधनाका स्वरूप कहतेहैं–

सुद्धणये चउखंधं उत्तं आराहणाइ एरिसियं ।
सव्ववियप्पविमुक्को सुद्धो अप्पा णिरालंबो ॥ ८ ॥

शुद्धनये चतुस्कंधमुक्तं, आराधनाया ईदृश ।
सर्वविकल्पविमुक्तः शुद्ध आत्मा निरालंबः ॥ ८ ॥

अर्थ–शुद्धनिश्रयनयसे समस्त प्रकारके विकल्पोंसे रहित, शुद्ध और निरालंब आत्मा ही सम्यग्दर्शन आदि चारों आराधना आदि स्वरूप कहा गया है । भावार्थ–स्थूलरूपसे व्यवहार और निश्चयके भेदसे नय दो प्रकारके हैं । व्यवहारनय भेदको विषय करता है और निश्चयनयका विषय अभेद है । व्यवहारनयसे आराधनाके सम्यग्दर्शन आदि भेद हैं और निश्चयनयसे समस्त प्रकारके भेदोंसे रहित विशुद्ध और निरालंब आत्मा ही सम्यग्दर्शन आदि चारो आराधनाये है । निश्चय नयसे सम्यग्दर्शन आदि आराधनाके भेद नहिं हो सकते ॥ ८ ॥ निश्चय आराधनाका और भी विशेष स्वरूप कहते हैं–

सद्दहइ ससहावं जाणइ अप्पाणमप्पणो सुद्धं ।

तं च्चिय अणुचरइ पुणो इंदियविसये णिरोहित्ता ॥ ९ ॥

श्रद्दधाति स्वस्वभाव जानाति आत्मानमात्मन' शुद्ध ।
तमेवानुचरति पुनरिंद्रियविषयान्निरुध्य ॥ ९ ॥

अर्थ—स्वस्वभावका श्रद्धान करना, अपनेसे ही अपना निष्कलंक स्वरूप जानना और इंद्रियोंके विषयोंको रोककर अपनेस्वरूपका ही अनुचरण करना निश्चयसम्यग्दर्शन आदि चारो आराधना हैं। भावार्थ-ऊपर कह दिया गया है कि निश्चय सम्यग्दर्शन आदि आराधनायें निर्दोष आत्मस्वरूप है-निश्चयनयसे उनके भेद नही। यहांपर कुछ विशेष बतलाया है अर्थात् स्वस्वरूपका श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन आराधना है। अपनेसे अपने स्वरूपका जानना निश्चय सम्यग्ज्ञान आराधना और १ हलका २ भारी ३ चिकना ४ खुरखुरा ५ ठंडा ६ गरम ७ कोमल और ८ कठोर आठ प्रकारका स्पर्श, १ कडुआ २ तीखा ३ मीठा ४ अम्ल और ५ खारा पांच प्रकारका रस, १ सुगंध २ दुर्गंध दोप्रकारके गंध, १ सफेद २ पीला ३ लाल ४ नीला और ५ काला पांच प्रकारका रूप और १ निषाद २ ऋषभ ३ गांधार ४ षड्ज ५ मध्यम ६ धैवत और ७ पंचम ये सात स्वर इसप्रकार क्रमसे स्पर्शन आदि पांचो इंद्रि-

योंके सत्ताईस विषयोंका निरोधकर निजस्वरूपका आचरण करना निश्चय सम्यक् चारित्र आराधना है और इंद्रियोंके विषयोंको रोककर स्वस्वरूपमें लीन रहना निश्चय-तप आराधना है ॥ ९ ॥ अब निश्चय सम्यग्दर्शन आदि आराधनाओंका सार खींचकर ग्रंथकार कहते हैं–

तम्हा दंसण णाणं चारित्तं तह तवो य सो अप्पा ।
चइऊण रायदोसे आराहउ सुद्धमप्पाणं ॥ १० ॥

तस्माद्दर्शन ज्ञान चारित्रं तथा तपश्च स आत्मा ।
त्यक्त्वा रागद्वेषौ आराधयतु शुद्धमात्मानं ॥ १० ॥

अर्थ–इसलिये निश्चयनयसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप चारो आराधनायें आत्मा ही हैं अतः राग और द्वेषका सर्वथा त्यागकर शुद्ध आत्माका ही आराधन करना चाहिये । भावार्थ–आत्मा ही सम्यग्दर्शन आदि चारो आराधना-स्वरूप है इसका आशय यह है कि--जिससमय यह आत्मा अपने परमात्मस्वरूपका श्रद्धान करता है उससमय यही निश्चय सम्यग्दर्शन आराधना कहा जाता है जिसस-

मय अपने परमात्मस्वरूपको जानता है उससमय यही निश्चय सम्यग्ज्ञान, जिससमय अपने परमात्मस्वरूपका आचरण करता है उससमय यही निश्चय चारित्र और जिस-समय परद्रव्यकी अभिलाषा त्यागकर स्वस्वरूपमें संतुष्ट रहता है उससमय यही सम्यक्तप आराधना कहा जाता है। जैसा कि कहा है—

विशुद्धे स्वस्वभावे यच्छ्रद्धानं शुद्धबुद्धितः।
तन्निश्चयनये सम्यग्दर्शनं मोक्षसाधनं ॥ १ ॥
आत्मानमात्मसंभूतं रागादिमलवर्जितं।
यो जानाति भवेत्तस्य ज्ञानं निश्चयहेतुजं ॥ २ ॥
तमेव परमात्मानं पौनःपुन्यादयं यदा।
अनुतिष्ठेत्तदा त्वस्य ज्ञानं चारित्रमुत्तमं ॥ ३ ॥
परद्रव्येषु सर्वेषु यदिच्छाया निवर्तनं।
तपः परममात्मानं तन्निश्चयनयस्थितं ॥ ४ ॥

अर्थात्–शुद्धबुद्धि स्वस्वभावज्ञानसे विशुद्ध स्वस्वभावका श्रद्धान करना मोक्षका कारण निश्चय सम्यग्दर्शन है। राग द्वेष आदि मलोंसे रहित, और आत्मासे ही प्रादुर्भूत

जो परमात्मस्वरूपका जानना है वह निश्चय सम्यग्ज्ञान है। बार बार परमात्मस्वरूपका आचरण करना निश्चयचारित्र और समस्त परपदार्थोंसे निरभिलाष हो स्वस्वरूपमें संतुष्ट रहना तप है ॥ १० ॥ शंका होती है कि जिसप्रकार व्यवहार आराधनामें आराधन आराध्य आराधक और फल चारो बातें स्पष्टरूपसे जान पड़ती हैं उसप्रकार आत्मस्वरूप निश्चय आराधनामें ये बातें कैसे मालूम हों ? तो इसबातका खुलासा ग्रंथकार करते हैं—

आराहणमाराहं आराहय तह फलं च जं भणियं ।
तं सव्वं जाणिज्जो अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥ ११ ॥

आराधनमाराध्यं आराधकस्तथा फलं च यद् भणितं ।
तत्सर्वं जानीहि आत्मानं चैव निश्चयतः ॥ ११ ॥

अर्थ—आराधन आराध्य आराधक और फल जो चार बातें बतलाई हैं वे निश्चय नयसे आत्मा ही है आत्मासे भिन्न नहीं। भावार्थ—व्यवहारसम्यग्दर्शन आदि चारो आराधनाओंकी प्रकटताका उपाय आराधन है सम्यग्दर्शन आदि आराध्य, आत्मा

आराधक और सकलकर्मोंका नाश वा संवर निर्जरा फल है इसप्रकार चारो भिन्न हैं परतु निश्चयनयसे वे सब आत्मस्वरूपही हैं क्योंकि आराध्य पदार्थके प्राप्त होनेके उपाय-को आराधन कहते हैं सो यहांपर आराध्य जो शुद्धात्मस्वरूप है उसके प्रकट होनेका उपाय शुद्धात्मस्वरूपका। चिंतवन होनेसे, आराधन शुद्धात्मस्वरूप ही है। आराधना करनेके योग्य पदार्थको आराध्य कहते हैं सो आराधना करने योग्य भी शुद्धआत्मस्वरूप ही है। आराधना करनेवालेको आराधक कहते हैं सो वह भी आत्मा ही है। और आ-राध्यकी प्राप्तिको फल कहते हैं सो अंतमें शुद्धात्माकी प्राप्ति होनेसे वह भी शुद्धात्म-स्वरूप ही है इसलिये आराधन आदि आत्माके ही स्वरूप होनेसे निश्चयनयमें भी आराधन आराध्य आदि घट जाते हैं। इसी आशयको संस्कृत टीकाकार नीचेलिखे श्लोकसे स्फुट करते हैं—

आराध्यश्चित्स्वरूपो यदयमयमुपायायितस्तस्य सम्य-
ग्बोधे चाराधनं च स्फुटतदनुचरीभूत आराधकोऽयं।
कर्मप्रध्वंसभावाच्छिवपदमयितोयं च काम्यं फलं त-
च्च्याराध्याराधनाराधकफलमखिलं मोक्ष आत्मैक एव ॥ १ ॥

अर्थात्—उपायसे प्राप्त करने योग्य-जानने योग्य आप-चैतन्यस्वरूप आत्मा ही आराध्य, अपना ही भलेप्रकार ज्ञान होना आराधन अपने ही को जाननेवाला आराधक और समस्त कार्योंसे रहित हो आपहीका मोक्ष स्थानमें प्राप्त हो जाना फल है इसरीतिसे जब चित्स्वरूप ही आराध्य आराधन आराधक और फलस्वरूप है तब निश्चयनयमें आराध्य आराधन आराधक और उसके फलके घटनेमें किसीप्रकारकी अड़चन नहीं ॥ ११ ॥ अब निश्चयआराधनाकी मोजूदगीमें व्यवहार आराधनाकी क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर ग्रंथकार देते हैं—

पज्जयणयेण भणिया चउव्विहाराहणा हु जा सुत्ते ।
सा पुणु कारणभूदा णिच्छयणयदो चउक्कस्स ॥ १२ ॥

पर्यायनयेन भणिता चतुर्विधाराधना हि या सूत्रे ।
सा पुनः कारणभूता निश्चयनयतश्चतुष्कस्य ॥ १२ ॥

अर्थ—जो चारप्रकारकी व्यवहार आराधना बतलाई है वह निश्चय आराधनामें कारण है क्योंकि विना व्यवहार आराधनाके निश्चय आराधनामें प्रवृत्ति नहिं हो सकती । मा-

भावार्थ–जिस प्रकार कोई पुरुष केवल म्लेच्छ भाषा जानता है यदि उसको विशुद्ध तत्त्वज्ञान-का किसी अन्यभाषामें उपदेश दिया जाता है तो वह समझ नहिं सकता किंतु उसैही जिस-समय म्लेच्छभाषा बोलकर तत्त्वज्ञानका स्वरूप समझाया जाता है तो वह बहुत जल्दी समझ लेता है उसीप्रकार जबतक व्यवहारनयसे सम्यग्दर्शन आदिका स्वरूप नहि जाना जाता तबतक निश्चय सम्यग्दर्शन आदिका स्वरूप नहिं जान सकते किंतु जिससमय व्यवहार सम्यग्दर्शन आदिका स्वरूप जान लिया जाता है उससमय निश्चय सम्यग्द-र्शन आदिका स्वरूप बहुत जल्दी समझमें आजाता है। इसलिये केवल म्लेच्छभाषाके जानकार मनुष्यको तत्त्वज्ञानका रहस्य समझानेकेलिये जिसप्रकार म्लेच्छभाषा उप-योगिनी है–विना म्लेच्छ भाषाका अवलंबन किये तत्त्वज्ञानका स्वरूप नहिं समझाया जासकता उसीप्रकार निश्चय सम्यग्दर्शन आदिके स्वरूपके समझनेकी शक्ति न रखने-वाले मनुष्यकेलिये व्यवहार सम्यग्दर्शन आदिका स्वरूप जानना उपयोगी है विना व्यवहार सम्यग्दर्शन आदिका स्वरूप जानें निश्चय सम्यग्दर्शन आदिका स्वरूप नहिं जाना जा सकता। हां जब निश्चय सम्यग्दर्शन आदिके स्वरूपका पूर्ण ज्ञान होजाय उससमय व्यवहार सम्यग्दर्शन आदिके स्वरूप ज्ञानकी कोई आवश्यकता नहीं उसस-

मय तो व्यवहारनयका सहारा सर्वथा छोड़देना ही योग्य है इसलिये निश्चय सम्यग्दर्शन आदि आराधनामें व्यवहारसम्यग्दर्शन आदि आराधना कारण होनेसे उनका आचरण करना प्रयोजनीय है ॥ १२ ॥ अब मुनि संसारका किसप्रकार नाश करता है इसबातको ग्रंथकार बतलाते हैं—

कारणकज्जविभागं मुणिऊणं कालपहुदिलद्धीए।
लहिऊण तहा खवओ आराहउ जह भवं मुचइ ॥ १३ ॥

कारणकार्यविभाग मत्वा कालप्रभृतिलब्धीः।
लब्ध्वा तथा क्षपक आराधयतु यथा भवं मुचति ॥ १३ ॥

अर्थ—मुनि कारण और कार्यके विभागको जानकर एवं काल आदि लब्धियोंको प्राप्त होकर उसरीतिसे परमात्माका आराधन करे जिससे उसका संसार छूट जाय। भावार्थ—व्यवहार आराधना कारण है निश्चय आराधना कार्य है क्योंकि व्यवहार आराधनाके अवलंबनसे निश्चय आराधनाकी प्राप्ति होती है। निश्चय आराधना कारण है और मोक्ष कार्य है क्योंकि निश्चय आराधनासे मोक्षकी प्राप्ति होती है। तथा

मोक्ष कारण है और अनंत चतुष्टयरूप शुद्ध परमात्मासे उत्पन्न अनंत सुख कार्य है क्योंकि इस सुखकी मोक्षमें प्रकटता होती है इत्यादि कार्य कारणके भेदका जिस जीव को पूर्णरूपसे ज्ञान है और काल आदि लब्धियां भी जिसने प्राप्त करली हैं ऐसा जीव जिससमय परमात्माका आराधन करता है उससमय उसका संसार सर्वथा छूट जाता है इसलिये भव्य मुनिके संसारके छूटनेमें कार्य कारणका ज्ञान और कालादि लब्धिपूर्वक परमात्माका आराधन कारण है। यहांपर यह शंका न करनी चाहिये कि कार्य कारणके ज्ञानसे ही मोक्षकी प्राप्ति हो जायगी काल आदि लब्धियोंकी प्राप्तिसे क्या प्रयोजन? क्योंकि कार्य कारणके विभागका ज्ञान और काल आदि लब्धियां दोनों ही मोक्षकी प्राप्तिमें कारण हैं एकसे मोक्षरूप कार्यकी प्राप्ति नहिं होसकती। जैसा कि कहा है—

कारणद्वयसाध्यं न कार्यमेकेन जायते।
द्वंद्वोत्पाद्यमपत्यं किमेकेनोत्पद्यते क्वचित्॥

अर्थात्—जिसप्रकार स्त्री और पुरुष दोनोंसे उत्पन्न होनेवाली संतान केवल स्त्री वा केवल पुरुषसे उत्पन्न नहिं होती उसीप्रकार जो कार्य दो कारणोंसे उत्पन्न होता है

वह एक कारणसे कभी उत्पन्न नहिं हो सकता। मोक्षरूप कार्य, कारण कार्यके विभागका ज्ञान और काल आदि लब्धियोंकी प्राप्ति दोनों कारणोंसे होता है इसलिये वह केवल कार्य कारणके विभागज्ञानरूपकारणसे नहि प्राप्त हो सकता ॥ १३ ॥ यदि जीव परमात्माका आराधन न करसकै तो उसै क्या करना पड़ता है? इस प्रश्नका समाधान ग्रंथकार करते हैं—

जीवो भमइ भमिस्सइ भमियो पुव्वं तु णरयणरतिरियं।
अलहंतो णाणमई अप्पा आराहणा णाउं ॥ १४ ॥

जीवो भ्रमति भ्रमिष्यति भ्रांतः पूर्वं तु नरकनरतिर्यक्।
अलभमानो ज्ञानमयीमात्माराधना ज्ञातुं ॥

अर्थ—चैतन्यमयी आत्माराधनाके ज्ञानको न प्राप्तकर जीव नरक मनुष्य तिर्यंच और देव गतिमें भ्रमण करता है भ्रमण करैगा और पहिले भ्रमण किया है। भावार्थ-नरक मनुष्य तिर्यंच और देवगतिके भेदसे गति चार प्रकारकी हैं। जबतक जीव चैतन्यमयी आत्माराधनाका अनुभव नहिं करता तबतक उक्त चारो गतियोंमें भ्रमण करता

रहता है अर्थात् किसी समय मनुष्यगतिमें भ्रमणकर उसके दुःख भोगता है तो पीछे वहां की आयु समाप्त कर देव गतिमें जाकर दुःख सुख भोगता है। वहांकी आयु समाप्तकर तिर्यंचगतिमें आकर दुःख भोगता है फिर वहांसे नरक जाकर नानाप्रकारके क्लेश भोगता है किंतु जिससमय चैतन्यमयी आत्माराधना प्राप्त हो जाती है उससमय जीवको किसीगतिमें नहिं घूमना पड़ता-वह सीधा मोक्ष चला जाता है और वहांपर अव्याबाध सुखका सानंद भोग करता है इसलिये जो पुरुष यह चाहते हैं कि हमारा संसारका घूमना छूट जाय उन्हें चाहिये कि वे अनंत ज्ञानमय निश्चय आराधनाके स्वरूपकी अवश्य प्राप्ति करें ॥१४॥ अब पहिले क्या कार्यकर निश्चय आराधना आराधनी चाहिये। इसका समाधान ग्रंथकार करते हैं-

संसारकारणाइं अत्थि हु आलंबणाइ बहुयाइं।
चइऊण ताइं खवओ आराहउ अप्पयं सुद्धं ॥ १५ ॥

संसारकारणानि सति हि आलंबनानि बहुकानि।
त्यक्त्वा तानि क्षपक आराधयतु आत्मानं शुद्धं ॥ १५ ॥

अर्थ-जो पदार्थ संसारके कारण हैं उन सबका त्यागकर क्षपकको शुद्ध आ

त्मा-निश्चय आराधनाका आराधन करना चाहिये । भावार्थ—माला चंदन स्त्री पुत्र धन धान्य गीत नृत्य वादित्र आदि नानाप्रकारके इंद्रियोंके विषय संसारके कारण हैं। यह मूढ जीव आत्मिक शुद्ध अतींद्रिय सुखसे पराङ्मुख हो उनही पदार्थोंको अपनाता है और संसारमें भ्रमण कर नानाप्रकारके दुःखोंको भोगता है। किंतु जिससमय इस जीवका पदार्थोंसे ममत्व छूट जाता है उससमय शुद्ध आत्मा-निश्चय आराधनाका आराधन हो निकलता है इसलिये मुनिको चाहिये कि वह चंदन स्त्री पुत्र आदि संसारके कारण पदार्थोंका सर्वथा त्यागकर विशुद्ध आत्माका आराधन करै ॥ १५ ॥ निश्चय आराधनाके आराधनसे तो मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है इसलिये उसका आराधन करना तो उचित है परंतु चारप्रकारकी व्यवहार आराधनासे किस बातकी प्राप्ति होती है जिससे उसका आराधन किया जाता है ? इस प्रश्नका समाधान ग्रंथकार करते हैं—

भेयगया जा उत्ता चउव्विहाराहणा मुणिंदेहिं ।
पारंपरेण सावि हु मोक्खस्स य कारणं हवइ ॥ १६ ॥

भेदगता या उक्ता चतुर्विधाराधना मुनींद्रैः ।
पारंपर्येण सापि हि मोक्षस्य च कारणं भवति ॥ १६ ॥

अर्थ–चार प्रकारकी जो व्यवहार आराधना वतलाई गई है परंपरासे वह भी मोक्षकी कारण है। भावार्थ–कारण दो प्रकारके होते हैं एक साक्षात् दूसरे परंपरासे। वस्त्रकी उत्पत्तिमें यद्यपि साक्षात्कारण तंतु हैं तथापि परंपरासे कारण विनौला भी है क्योंकि विना विनौलेके कपास विना कपासके तंतु नहिं वन सकते और विना तंतुओंके वस्त्र तयार नहिं हो सकता उसीप्रकार यद्यपि निश्चय आराधना मोक्षकी प्राप्तिमें साक्षात् कारण है परंतु परंपरासे व्यवहार आराधना भी मोक्षकी प्राप्तिमें कारण है क्योंकि विना व्यवहार आराधनाके निश्चय आराधनाकी प्राप्ति नही होती और विना निश्चय आराधनाके मोक्षकी प्राप्ति होना असंभव है अर्थात् भव्य जीव काल लब्धिको प्राप्तकर, कर्मके क्षयोपशमसे गुरुके समीप जाकर और उनका उपदेश श्रवणकर जिससमय आराधनाके आराधनके लिये प्रवृत्त होता है उससमय पहिले व्यवहार आराधनाका आराधन करता है पश्चात् सम्यग्दर्शन आदि चारो स्वरूप निश्चय आराधना रूप परमात्माका आराधनकर घातिया कर्मोंका नाश और केवल ज्ञानको प्राप्त कर मोक्ष चला जाता है इसलिये जिसप्रकार विना

निश्चय आराधनाके मोक्षकी प्राप्ति नहिं हो सकती उसीप्रकार विना व्यवहार आराधनाके भी मोक्षकी प्राप्ति नहिं हो सकती ॥१६॥ अब आराधनाओंके आराधन करनेवाले पुरुषके कैसे लक्षण होने चाहिये और उसै कबतक आराधनाका आराधन करना चाहिये ? इसबातको ग्रंथकार बतलाते हैं—

णिहयकसाओ भव्वो दंसणवंतो हु णाणसंपण्णो ।
दुविहपरिग्गहचत्तो मरणे आराहओ हवइ ॥ १७ ॥

निहतकषायो भव्यो दर्शनवान् हि ज्ञानसंपन्नः ।
द्विविधपरिग्रहत्यक्तो मरणे आराधको भवति ॥ १७ ॥

अर्थ—जो पुरुष कषायोंसे रहित हो, भव्य सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानका धारक और बाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रहसे रहित है वह पुरुष आराधक कहा जाता है और मरणपर्यंत वह आराधनाओंका आराधन कर सकता है । भावार्थ—जो पुरुष कषायविशिष्ट, अभव्य, मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी और दोनोंके प्रकारके परिग्रहोंसे युक्त होगा वह आराधक नहिं बन सकता किंतु जिसके क्रोध मान माया लोभ

है और राग द्वेषसे भी विनिर्मुक्त है वह मरणपर्यंत आराधक कहा जाता है। भावार्थ- आत्माका स्वभाव समस्तकालिमाओंसे रहित निर्मल परमचिदानंद चैतन्यस्वरूप है जो महानुभाव ऐसे परमपवित्र आत्मस्वभावमें लीन है। समस्त प्रकारके परिग्रहोंसे रहित, परमात्मपदार्थसे विलक्षण परपदार्थोंके संसर्गसे उत्पन्न वैषयिकसुखसे रहित है और राग द्वेषसे विमुक्त है वह महापुरुष आराधनाओंका आराधक समझा जाता है और वह मरणपर्यंत आराधनाओंका आराधन कर सकता है ॥१९॥ जो जीव सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयस्वरूप आत्माको छोड़कर परपदार्थका चिंतवन करता है वह कैसा होता है इसबातको ग्रंथकार बतलाते हैं—

जो रयणत्तयमइओ मुत्तूणं अप्पणो विसुद्धप्पा।
चिंतेइ य परदव्वं विराहओ णिच्छयं भणिओ ॥ २० ॥

यो रत्नत्रयमय मुक्त्वात्मनो विशुद्धात्मान।
चिंतयति च परद्रव्य विराधको निश्चितं भणितः ॥ ३० ॥

अर्थ-जो पुरुष रत्नत्रयस्वरूप अपनी विशुद्ध आत्माको छोड़कर परपदार्थोंकी चिंता

हता है और उसकी संसारके परिभ्रमणमें कारण इसलोकसंबंधी परलोकसंबंधी ख्याति पूजा लाभ भोग और इंद्रियजन्यसुखमें किसीप्रकारकी अभिलाषा नहीं । हां ! यदि कोई पुरुष अपने वास्तविक स्वरूपकी प्राप्तिकी अभिलाषा न कर नवग्रैवेयक पर्यंत विशिष्टसुखके प्रदान करनेवाले विशिष्ट पुण्यके कारण परमेष्ठीके स्वरूपका आराधन करता है तो वह विराधक अराधनाओंका न आराधन करनेवाला समझा जाता है क्योंकि उसकी यह भावना रहती है कि मुझे नवग्रैवेयक पर्यंतकी विशिष्ट ऋद्धि प्राप्त होजाय इसलिये विशिष्ट पुण्यकेलिये वह परमेष्ठियोंके स्वरूपका आराधन करता है और पुण्यकी प्राप्तिकेलिये परमेष्ठीके स्वरूपका आराधन करना उत्तम नहिं गिना जाता क्योंकि जो पदार्थ संसारके कारण हैं वे शांति प्रदान नहिं करसकते । पुण्य संसारका कारण है इसलिये उससे भी वास्तविक सुख शांति नहिं मिल सकती । कहा भी है—

तेनापि पुण्येन कृत कृतं यज्जंतोर्भवेत्संसृतिवृद्धिहेतुः ।
तच्चार्यपीच्छन्नु हेम को वा क्षितं श्रुती त्रोटयते यदाशु ॥

अर्थात् सुंदर भी सोना यदि वह पहिनते ही कानोंको तोड़देता है तो जिसप्रकार वह दुःखदायी गिना जाता है और लोग दुःखके भयसे उसे कानोंमें नहिं पहि-

करता है वह पुरुष आराधनाओंका आराधक न समझा जाकर विराधक समझा जाता है। भावार्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्‌चारित्रस्वरूप विशुद्ध आत्मा अपना है और स्त्री पुत्र आदि परपदार्थ अन्य हैं। जो पुरुष मोहसे मूढ़ हो सदा यह विचार करता रहता है कि स्त्री पुत्र धन आदि पदार्थ मेरे हैं और सम्यग्दर्शन आदिस्वरूप परमात्माको नहिं अपनाता वह पुरुष विराधक कहा जाता है। वह आराधनाओंका आराधन नहिं कर सकता। शंका होती है कि जब अपने आत्मासे भिन्न परपदार्थोंका आराधन करनेवाला पुरुष विराधक समझा जाता है तब जो पुरुष अर्हंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु इन पांच परमेष्ठियोंका आराधन करनेवाला है वह भी विराधक होना चाहिये क्योंकि अर्हंत आदि भी तो अपनी आत्मासे भिन्न हैं सो नहीं क्योंकि जो पुरुष वास्तविक पदार्थोंके स्वरूपका ज्ञाता है और अपने विशुद्ध आत्माके आराधन करनेकेलिये प्रवृत्त हुआ है वह यदि किसी कारणवश अपने विशुद्ध आत्मस्वरूपमें स्थिति न करसंके तो उसमें निश्चल स्थिति होनेकेलिये वा विषय कषायोंके नाशकेलिये यदि भिन्न स्वरूपके धारक भी पंच परमेष्ठियोंका आराधन करता है तो वह विराधक नहिं समझा जाता क्योंकि वह आत्मिक स्वरूपको साधना चा-

संगच्चाएण फुडं जीवो परिणवइ उवसमो परमो ।
उवसमगओ हु जीवो अप्पसरूवे थिरो हवइ ॥ ३१ ॥

सगत्यागेन स्फुट जीवः परिणमति उपशम परम ।
उपशमगतस्तु जीव आत्मस्वरूपे स्थिरो भवति ॥ ३१ ॥

अर्थ--परिग्रहके त्यागसे जीव सर्वोत्कृष्ट उपशम--राग आदिके नाशको प्राप्त करलेता है और जिससमय इसै परम उपशम प्राप्त हो जाता है उससमय यह स्वस्वरूपमें स्थिर हो ज ता है । भावार्थ--जब तक यह जीव वाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग नहिं करता तब तक सदा इसके रागद्वेष आदि दुर्भाव विद्यमान रहते हैं और उनसे सदा इसके शुभ अशुभ कर्मोंका बध हुआ करता है किंतु जिससमय यह दोनों प्रकारके परिग्रहका सर्वथा त्यागकर देता है उससमय इसके राग द्वेष आदिका सर्वथा नाशस्वरूप उत्कृष्ट उपशम प्राप्त हो जाता है और उत्कृष्ट उपशमकी प्राप्तिसे यह स्वस्वरूप--विशुद्ध चिदानंद चैतन्य स्वरूपमें निश्चल हो जाता है ॥ ३१ ॥ यदि परिणाम निर्मल हैं तो परिग्रहोंका धारक भी आत्माका आराधन कर सकता है परिग्रहोंके त्यागसे क्या प्रयोजन ? इस शकाका ग्रंथकार समाधान करते हैं -

कता और आसक्तता होना रति है। रतिसे विपरीत अरति है। शोक वा चिंता करना शोक है । चित्तमें घबराहट होना भय है। अपने दोषोंको आच्छादनकर दूसरेके कुल शील आदिमें दोष प्रकट करना अथवा अवज्ञा तिरस्कार वा ग्लानि रूप भावोंका करना जुगुप्सा है । गुस्सा होना क्रोध, घमंड करना मान, छल कपट करना माया और लोभ करना लोभ है एवं दूसरोंसे वैर रखना दोष कहा जाता है। कहा भी है—

> मिच्छत्तवेयराया हासादीयाय तह स छद्दोसा।
> चत्तारि तह कसाया अब्भंतरचउदसा गंथा।

अर्थात् मिथ्यात्व वेद राग द्वेष हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा क्रोध मान माया और लोभ ये चौदह अभ्यंतर परिग्रहके भेद हैं । इस रीतिसे दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग कर मुनि समस्त पर द्रव्योंसे उत्पन्न विकल्पोंसे रहित अथवा पदस्थ पिंडस्थ रूपस्थ और रूपातीत स्वरूप आलंबनोंसे रहित निरालंब परमात्माकी भावना करता है ॥ ३० ॥ परिग्रहके त्यागसे आत्माको किस फलकी प्राप्ति होती है इस बातको ग्रंथकार कहते हैं—

कपास तिल चंदन आदि कुप्य और थाली लोटा आदि और पुरुष दासी दास हैं । वर्तन भांड कहे जाते हैं। कहीं पर—

सयणासणघरछित्तं सुवण्णधणधण्णकुप्पभंडाइं।
दुपयचउप्पय जाणसु एदे दस बाहिरा गंथा ॥

अर्थ—१ शयन २ आसन ३ घर ४ क्षेत्र ५ सुवर्ण ६ धन ७ धान्य ८ कुप्य ९ भांड १० दुपाये चौपाये इसप्रकार भी दशपरिग्रह बतलाये हैं और यहां धनसे चांदी वा उसके गहने आदि लिये गये हैं । तथा १ मिथ्यात्व २ वेद ३ राग ४ हास्य ५ रति ६ अरति ७ शोक ८ भय ९ जुगुप्सा १० क्रोध ११ मान १२ माया १३ लोभ और १४ द्वेष ये चौदह अभ्यंतर परिग्रहके भेद हैं। तत्त्वोंमें श्रद्धान न होना मिथ्यात्व है वेदका अर्थ लिंग है और उसके स्त्री पुं और नपुंसक ये तीन भेद हैं पुरुषसे रमनेकी इच्छा स्त्रीवेद, स्त्रीसे रमनेकी इच्छा पुरुषवेद और स्त्री पुरुष दोनोंसे रमनेकी इच्छा नपुंसकवेद है। स्त्री पुत्र आदिमें ममता राग है। हसी करना हास्य है। विषयोंमें उत्सु-

१ राजवार्तिकमें भाड शब्दको ग्रहण नहिं किया परंतु संस्कृत टीकाकारने यहां भाड शब्दको रक्खा है। और ' सयणासण ' आदिसे उन्होंने दूसरे ही बाह्य परिग्रहोंके भेद बतलाये हैं।

स्वरूपमे स्थिति करै ॥ २९ ॥ संन्यासके योग्य मनुष्यको और क्या कार्य करना चाहिये जिससे वह निरालंब आत्माकी भावना कर सकै इसबातको ग्रंथकार बतलाते हैं–

खित्ताइबाहिराणं अब्भिंतरमिच्छपहुदिगंथाणं।
चाए काऊण पुणो भावह अप्पा णिरालंबो ॥ ३० ॥

क्षेत्रादिवाह्यानामभ्यन्तरमिथ्यात्वप्रभृतिग्रंथानाम्।
त्यागं कृत्वा पुनर्भावयतात्मानं निरालंबं ॥ ३० ॥

अर्थ–क्षेत्र आदि वाह्य और मिथ्यात्व आदि अंतरंग परिग्रहका त्यागकर मुनिको निरालंब आत्माका ध्यान करना चाहिये। भावार्थ परिग्रहके दो भेद हैं एक वाह्य दूसरा अभ्यंतर। १ क्षेत्र २ वास्तु ३ हिरण्य ४ सुवर्ण ५ धन ६ धान्य ७ दासी ८ दास ९ कुप्य और १० भांड ये दश वाह्य परिग्रहके भेद हैं। धान्य आदि उत्पन्न होनेके स्थानका नाम क्षेत्र है। रहनेके घरमकान आदि वास्तु हैं। रुपया चांदी वगैरहको हिरण्य कहते हैं। सोना व सोनेके गहनेको सुवर्ण कहते हैं गौ बैल भैंस आदिको धन कहते हैं। शाली गेहूं आदि धान्य हैं। शरीर व घरकी सेवा करनेवाली स्त्रियां

सो सण्णासे उत्तो णिच्छयवाईहिं णिच्छयणयेण।
ससहावे विण्णासो समणस्स वियप्परहियस्स ॥ २९ ॥

स सन्यासे उक्तो निश्चयवादिभिर्निश्चयनयेन ।
स्वस्वभावे विन्यासः श्रमणस्य विकल्परहितस्य ॥ २९ ॥

अर्थ–समस्त प्रकारके विकल्पोंसे रहित मुनि जब स्वस्वभावमें स्थिति करता है तब वह निश्चयनयसे सन्यासके योग्य है । भावार्थ–जबतक मुनिकी देह आदि विभाव परिणामोंमें स्थिति रहती है और जबतक उसके मनमें स्त्री पुत्र आदि परपदार्थ मेरे हैं इसप्रकारके विकल्प विद्यमान रहते हैं तबतक वह मुनि निश्चय सन्यासके योग्य नहिं होता किंतु जिससमय उसकी देह आदि विभाव परिणामोंसे रहित स्वाभाविक चिदानंद चैतन्य स्वरूपमें स्थिति होती है और स्त्री पुत्र आदि परपदार्थ मेरे हैं इस-प्रकारके विकल्पोंका सर्वथा नाश हो जाता है उससमय वह मुनि निश्चय सन्यासके योग्य कहा जाता है इसलिये निश्चय सन्यासके योग्य होनेके अभिलाषी मुनिको चाहिये कि वह समस्त प्रकारके विकल्पोंसे रहित होकर स्वस्वरूप–चिदानद चैतन्य-

जबतक इंद्रिय संयम और प्राणसंयमके करनेमें, अनशन आदि तप, श्रुतज्ञान धर्म्य ध्यान शुक्लध्यान, और यम नियम आसन प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधिरूप योगके आचरण करनेमें उद्यम नष्ट नहिं होता तभीतक पुरुष उत्तम स्थान सन्यासके योग्य हो सकता है अन्यथा नहीं। क्योंकि कहा भी है–

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेंद्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
संदीप्ते भुवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

अर्थात्–जबतक शरीररूपी घर स्वस्थ है जबतक वृद्धावस्थाका आक्रमण नहीं होता, जबतक इंद्रियोंका सामर्थ्य अप्रतिहत है जबतक आयुका नाश नहीं, तबतक आत्मकल्याणकेलिये विद्वानको पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि घरमें अग्नि लगनेपर कूआ खोदना व्यर्थ है–शरीरके अस्वस्थ आदि हो जानेपर आत्मकल्याणकेलिये प्रयत्न करना निरर्थक है॥ २५–२८॥ व्यवहारसे संन्यासकी योग्यता बतलाकर अब ग्रंथकार निश्चयनयसे सन्यासकी योग्यता बतलाते हैं–

अस्पष्टरूपसे देखनेवालीं नहिं होतीं। जबतक अवस्थाके विशेषसे इंद्रिय और मनके विकल हो जानेके कारण बुद्धि हेय उपादेय पदार्थोंके ज्ञानसे शून्य नहिं होती। जिसप्रकार छिद्रयुक्त अंजुलीमें भराहुआ जल बूंद बूंदकर खिर जाता है उसीप्रकार पचास वा सौ वर्ष आदिके परिमाणसे परिमित आयु जबतक वर्ष छै मास ऋतु मास पक्ष दिन घड़ी और समय आदिसे धीरे धीरे नष्ट नहिं होती। जबतक आत्मामें आहार आसन और निद्राका विजय विद्यमान है अर्थात् स्वसंवेदन ज्ञानामृत रसके आहारसे विलक्षण असाता वेदनीयके उदयसे तीव्र भूंखके कारण भोजन आदि करना आहार, अनेकप्रकारके तपश्चरणके भारको सहनेवाले आत्मस्वरूपकी स्थितिमें कारण और आलस्य ग्लानिके नाशक पर्यंक अर्धपर्यंक वीर वज्र स्वस्तिक पद्मक आदि आसन और निद्रा का विजय नहिं होता। शास्त्रमें जो अड़तालीस प्रकारके निर्यापक बतलाये हैं उनकी अपेक्षा न कर जबतक आत्मा स्वयं निर्यापक नहि हो जाता। जबतक चरण भुजा पृष्ठभाग कमर मस्तक और वक्षस्थल ये आठ अंग, इनसे भिन्न नाक कान आदि उपांग और संधिबंध हड्डियोंका नस और स्नायुसे जिकड़ना शिथिल नहिं होता। जब तक क्रूर वाघ आदिसे भीत मनुष्यके समान मृत्युके भयसे शरीर नहि कपता और

यावन्न शिथिलायते अंगोपांगानि संधिबंधाश्च ।
यावन्न देहः कंपयते मृत्योर्भयेन भीत इव ॥ २७ ॥
यावदुद्यमो न विगलति संयमतपोज्ञानध्यानयोगेषु ।
तावदर्हः स पुरुष , उत्तमस्थानस्य संभवति ॥ २८ ॥ कलापकं ।

अर्थ–जबतक वृद्धअवस्थारूपी व्याघ्री आक्रमण नहिं करती, जबतक इंद्रियां विकल नहिं होतीं, जबतक बुद्धिका नाश नहिं होता, जबतक आयुरूपी जल नहि गलता, जबतक आत्मामें निश्चयसे आहार आसन और निद्राका विजय विद्यमान है, जबतक अपनेसे स्वयं आप निर्यापक है, जबतक अंग उपांग और संधिबंध शिथिल नहिं होते जबतक मरणके भयसे डरे हुयेके समान शरीर नहिं कांपता, जबतक संयम तप ज्ञान ध्यान और योगोंमें उद्यम नष्ट नहिं होता तभीतक पुरुष उत्तम स्थान-सन्यासके योग्य रहता है फिर नहीं। भावार्थ–जिसप्रकार व्याघ्री मदोन्मत्त हाथीको निर्मद कर देती है उसीप्रकार वृद्धाअवस्था भी यौवनरूप हाथीका मद नष्ट करनेवाली है इसलिये जबतक यह वृद्धाअवस्थारूपी वाघिनी पुरुषपर आक्रमण नहिं करती, जबतक स्पर्श रस गंध वर्ण और शब्दस्वरूप अपने विषयोंको स्पष्टरूपसे देखनेवाली इंद्रियां विकल-उन्हें

जरवग्घिणी ण चंपइ जाम ण वियलाइ हुंति अक्खाइं ।
बुद्धी जाम ण णासइ आउजलं जाम ण परिगलई ॥ २५ ॥
आहारासणणिद्दाविजओ जावत्थि अप्पणो णूणं ।
अप्पाणमप्पणोण य तरइ य णिज्जावओ जाम ॥ २६ ॥
जाम ण सिढिलायंति य अंगोवंगाइ संधिबंधाइं ।
जाम ण देहो कंपइ मिच्चुस्स भएण भीउव्व ॥ २७ ॥
जा उज्जमो ण वियलइ संजमतवणाणझाणजोएसु ।
तावरिहो सो पुरिसो उत्तमठाणस्स संभवई ॥ २८ ॥ कलावयं ।

जरा व्याघ्री न चपते यावन्न विकलानि भवति अक्षाणि ।
बुद्धिर्यावन्न नश्यति आयुर्जलं यावन्न परिगलति ॥ २५ ॥
आहारासननिद्राविजयो यावदस्ति आत्मनो नून ।
आत्मानमात्मना च तरति च निर्यापको यावत् ॥ २६ ॥

अर्थ—जो महानुभाव गृहव्यापारसे, पुत्र आदि आत्मिकजनोंके साथ संबंधसे और जीवन एवं धनकी आशासे रहित है वह सन्यासके योग्य होता है । भावार्थ—अयोग्य पदार्थोंका त्याग और योग्य पदार्थोंका ग्रहण करना सन्यास है जो महानुभाव सबसे पहिले 'संसारमें घुमानेवाले समस्तप्रकारके व्यापारोंसे भिन्न जो चिदानंदचैतन्यका चमत्काररूप रसका अस्वादस्वरूप विशेष व्यापार उससे युक्त जो परमात्मा पदार्थ उससे विलक्षण' असि मषि कृषि पशुपालन और वाणिज्य आदि व्यापारोंका त्याग करता है पश्चात् पुत्र स्त्री आदि आत्मिक जनोंसे संबंध छोडता है और उसके बाद 'यह शरीर मेरा है इसलिये कभी भी मेरा इसके साथ वियोग न हो इसप्रकारकी अभिलाषा जीविताशा, और नित्य निरंजन शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव स्वसंवेदन ज्ञानरूपी धनसे भिन्न धन धान्य सुवर्ण आदि परिग्रहोंके संचयकी अभिलाषारूप धनाशासे रहित हो जाता है वह महात्मा सन्यासके अर्ह—योग्य होता है ॥ २४ ॥ बालक युवा और वृद्ध तीनों अवस्थाओंमेंसे किस अवस्थामें उत्तमरूपसे सन्यासकी योग्यता होती है इसबातको खुलासा रूपसे ग्रंथकार बतलाते हैं—

पहिले कहे हुये दोनोंप्रकारके परिग्रहोंका त्याग क्रोधादि चार प्रकारके कषायोंका नाश १ क्षुधा २ पिपासा ३ शीत ४ उष्ण ५ दंशमशक ६ नग्नता ७ अरति ८ स्त्री ९ चर्या १० निषद्या ११ शय्या १२ आक्रोश १३ बध १४ यांचा १५ अलाभ १६ रोग १७ तृणस्पर्श १८ मल १९ सत्कारपुरस्कार २० प्रज्ञा २१ अज्ञान और २२ अदर्शन इन बाईस प्रकारकी परीषहोंका त्याग, चेतनकृत अचेतनकृत उपसर्गोंका सहना, इंद्रियमल्लोंका जीतना और मनका वश करना नहिं होता तबतक चिरकालसे संचित कर्मोंका भी क्षय नहिं हो सकता, इसलिये क्षपकको चाहिये कि वह परिग्रहोंका त्याग आदि कर अवश्य पूर्वोपार्जित कर्मोंका नाश करै ॥ २२–२३ ॥ अब ग्रंथकार सात स्थानोंमें बतलाये हुये अर्ह शब्दका स्पष्ट भाव बतलाते हैं–

छंडिय गिहवावारो विमुकपुत्ताइसयणसंबंधो ।
जीवियधणासमुको अरिहो सो होइ सण्णासे ॥ २४ ॥

त्यक्तगृहव्यापारो विमुक्तपुत्रादिस्वजनसंबधः ।
जीवितधनाशामुक्त. अर्हः स भवति सन्यासे ॥ २४ ॥

नते उसीप्रकार जो पुण्य संसारका कारण है जिससे सदा संसारमें घूमना पड़ता है वह पुण्य भी दुःखदायी है विद्वान लोग दुःखके भयसे उस पुण्यका उपार्जन नहिं करते ॥ २० ॥ जो आत्माको और परकोभी नहिं समझता उसके आराधनाओंका आराधन होता है या नहीं ? ग्रंथकार इस प्रश्नका समाधान कहते हैं—

जो णवि वुज्झइ अप्पा णेय परं णिच्छयं समासिज्ज ।
तस्स ण वोही भणिया सुसमाही राहणा णेय ॥ २१ ॥

यो नैव बुध्यते आत्मानं नैव परं निश्चयं समास्त्य ।
तस्य न बोधिर्भणिता सुसमाधिराराधना नैव ॥ २१ ॥

अर्थ–जो पुरुष निश्चयनयका अवलंबनकर न आत्माको जानता है और न परपदार्थको जानता है उस पुरुषके न तो बोधि–सम्यग्दर्शन आदिकी प्राप्ति होती है और न समाधि-और आराधना ही उसके हो सकती है । भावार्थ–अप्राप्त सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी प्राप्तिको बोधि कहते हैं । निर्विघ्नरूपसे बोधिका दूसरे भवमें भी विद्यमान रहना यहां समाधि लीगई है और आराधनाका स्वरूप ऊपर कह दिया

जाम ण गंथं छंडइ ताम ण चित्तस्स मलिणिमा मुंचइ
दुविहपरिग्गहचाए णिम्मलचित्तो हवइ खवओ ॥ ३२ ॥

यावन्न ग्रंथ त्यजति तावन्न चित्तस्य मलिनिमान मुंचति ।
द्विविधपरिग्रहत्यागे निर्मलचित्तो भवति क्षपकः ॥ ३२ ॥

अर्थ—जबतक क्षपक परिग्रहका त्याग नहिं करता तबतक उसके चित्तका मालिन्य भी नहिं छूटता किंतु जिससमय दोनोंप्रकारके परिग्रहोंका त्याग हो जाता है उससमय उसका चित्त निर्मल हो जाता है। भावार्थ—जबतक परिग्रहका संबंध रहता है तबतक चित्तमें मालिन्य बना रहता है अर्थात् स्त्री पुत्र आदि मेरे प्रिय हैं। विष कंटक वैरी आदि अप्रिय हैं इसप्रकारके राग द्वेष आदि भावोंकी सदा मोजूदगी रहती है किंतु जिससमय दोनोंप्रकारके परिग्रहका सर्वथा नाश होजाता है उससमय चित्तमें किसीप्रकारकी मलिनता नहिं रहती सर्वथा चित्त निर्मल हो जाता है इसलिये क्षपकको चाहिये कि वह चित्तकी निर्मलताके लिये दोनोंप्रकारके परिग्रहका सर्वथा त्याग करदे ॥ ३२ ॥

सामान्यरूपसे निर्ग्रंथका स्वरूप प्रतिपादनकर अब ग्रंथकार परमार्थ निर्ग्रंथका स्वरूप प्रतिपादन करते हैं—

हुआ इसप्रकारका विचार न करना अज्ञानपरीषह है ॥ २१ ॥ और दुष्कर तपोंका आचरण करनेवाले परम वैरागी समस्त शास्त्रके वेत्ता और चिरकालसे व्रती मेरे अभी-तक अतिशय ज्ञान प्रकट न हुआ इसलिये मुनिवृत्ति धारण करना और व्रतोंका पालन करना निरर्थक है इसप्रकार दर्शनविशुद्धिके योगसे मनमें विचार न करना अदर्शन परीषहका जीतना है ॥ २२ ॥ इसप्रकार ये भयंकर बाईस प्रकारके परीषह सुभट राग द्वेषके अभावस्वरूप उपशम ज्ञानरूपी खड्गसे मुनिको अवश्य जीतने चाहिये ॥ ४० ॥ बहुतसे निर्बल मनुष्य सन्यास अवस्थामें परीषहोंको न सह सकनेके कारण पुनः शारी-रिक सुखकेलिये लालायित होजाते हैं इसवातको बतलाते हैं—

परिसहसुहडेहिं जिया केई सण्णासआहवे भग्गा।
सरणं पइसंति पुणो सरीरपडियारसुक्खस्स ॥ ४१ ॥

परीषहसुभटैर्जिताः केचित् सन्यासाहवाद्भग्नाः।
शरणं प्रविशंति पुनः शरीरप्रतीकारसुखस्य ॥ ४१ ॥

अर्थ—सन्यासरूपी संग्रामसे भगे हुये और परीषह रूपी सुभटोंसे जीते हुये

नेसे, धूलि आदिसे मलिन होनेसे, और खाज आदिके उत्पन्न होनेसे भी उनके प्रतीकारकी इच्छा न करना, पहिले किये गये स्नान आदिका स्मरण न करना, मलपरीषह है ॥ १८ ॥ मैं चिरकालसे ब्रह्मचारी हूं, महातपस्वी, स्वपर आगमका ज्ञाता पूर्णरूपसे हितकारी उपदेश देनेवाला और परवादियोंका विजयी हूं तो भी लोग मुझे प्रणाम भक्ति आसन प्रदान नहिं करते इसरीतिसे तो मिथ्यादृष्टि ही उत्तम हैं क्योंकि वे अपने मतके मूर्खभी मनुष्यको सर्वज्ञ मानकर उसका पूर्ण आदर सत्कार करते हैं उत्कट तपस्वियोंका पहिले व्यंतर आदि पूर्ण सत्कार वा सन्मान, करते थे यह शास्त्रका कथन मिथ्या है क्योंकि इससमय वे मेरी पूजा प्रतिष्ठा नहिं करते इसप्रकार चित्तमें किसीप्रकारकी ग्लानि न कर मान अपमानमें समभाव रखना सत्कारपुरस्कार परीषहका जीतना है ॥ १९ ॥ मै ग्यारह अंग चौदह पूर्वका धारक हूं सूर्यके समान मेरे सामने अन्य मनुष्य जुगुनूंके समान हैं इसप्रकार ज्ञानमद न करना प्रज्ञा परीषहका जीतना है ॥२०॥ यह मूर्ख पशुके समान है कुछ भी नहिं समझता इत्यादि दुर्वचनोंका सहना, सदा अध्ययनमें दत्त चित्त रहना, वचन कायकी अनिष्ट चेष्टा न करना महा उपवास आदिके करनेपर भी अभीतक मुझे क्यों विशिष्ट ज्ञानका लाभ न

याचना न कर केवल शरीरमात्रका दिखाना याचना परीषहका जीतना है ॥ १४ ॥ एकवार भोजन करनेवाले, केवल शरीरके दिखानेवाले, एक गांवमें भोजनके न मिलनेपर भी दूसरे गांवमें उसकेलिये प्रयत्न न क रनेवाले, पाणिरूप पात्रके धारक, बहुत दिन पर्यंत आहारके न मिलनेपर भी किसीप्रकारका खेद न करनेवाले, यह दाता गुणी है वा अगुणी इसबातकी भी परीक्षा न करनेवाले और लाभसे अलाभ ही उत्तम है इसप्रकार संतुष्ट चित्तके धारक मुनिको जो भोजनका लाभ नहिं होना है वह अलाभ परीषहका जीतना है ॥१५॥अपने शरीरको दूसरेके शरीरके समान मानना जल्लौषध आदि अनेक ऋद्धियोंके प्राप्त हो जानेपर भी किसीप्रकारका ममत्व न रखकर रोगके दूर करनेकी अभिलाषा न करना और सदा यह भावना करना कि यह पूर्वोपार्जित कर्मका फल है कर्मसे मैं इसीप्रकार निवृत्त हूंगा, रोग परीषहका सहना है ॥१६॥ रोग, मार्गकी थकावट वा शीत आदिके श्रमको दूर करनेकेलिये प्रासुक असंस्कृत भूमिपर बैठना वा शयन करनेपर वहांके-शुष्क तृण कठिन वालू कंटक वा कडी भूमिके स्पर्शनका सहना तृण स्पर्शन आदिसे उत्पन्न खुजलीसे भी चित्तमें किसीप्रकारकी ग्लानि न लाना तृणस्पर्शपरीषहका जीतना है ॥१७॥ सूर्य आदिकी गरमीसे उत्पन्न हुये पसीनेके आ-

आदिसे उपसर्गोंके नाशका उपाय न करना और पहिले अनुभव किये कोमल आसन आदिका भी स्मरण न करना निषद्या परीषहका जीतना है॥१०॥स्वाध्याय आदिसे खिन्न होनेपर विषय भूमिपर मुहूर्तपर्यंत निद्राका लेना, तिसपर भी एक पार्श्व-करवटसे सोना बाधाके उपस्थित होनेपर वा व्यंतर आदि जन्य भयके उपस्थित हो जानेपर न अपने करवटसे चिगना और न भग देना 'यह प्रदेश सिंह आदि क्रूर जीवोंसे पूर्ण है यहांसे चलदेना ही अच्छा, कब रात पूरी होगी ? ऐसा विषाद न करना और पूर्वकालमें अनुभूत कोमल सेजोंका स्मरण न करना शय्या परीषहका जीतना है॥११॥जिसको दृष्टिमात्रसे ही भस्म कर सकते हैं ऐसे निर्वल मनुष्यके भी कुवचनोंका सहलेना और निर्वल मनुष्यके कुवचनोंसे उसका दोष न मानकर अपने पूर्वोपार्जित कर्मोंका दोष समझना आक्रोशपरीषहका सहन करना है॥१२॥क्रुद्ध चोर बदमाशों द्वारा मारेजानेपर वैर न करना और मनमें यह भावना करना कि यह मेरे पूर्वोपार्जित कर्मोंका फल है ये विचारे मेरा क्या कर सकते हैं विनाशीक और दुःखदेनेवाले इस शरीरका विगाड़ कर सकते हैं वध परीषहका जीतना है॥१३॥क्षुधा, मार्गका चलना, तप और रोग अदिसे शक्ति के नष्ट हो जानेपर भी मुख आदिकी चेष्टा आदिसे भी आहार स्थान और औषधकी

है॥४॥दंश मशक आदिके डसनेपर भी चित्तका चंचल न करना, कर्मके फलका स्मरण कर दंश मशककी निवृत्तिका उपाय न करना दंशमशक परीषहका जीतना है॥५॥स्त्रियोंके रूपकी अपवित्रता और निंदितपनेकी भावना करना, नग्न मुद्राके रहनेपर भी चित्तमें किसीप्रकारका विकार न लाना नग्नपरीषहका जीतना है ॥ ६ ॥ क्षुधा तृषा आदिसे उत्पन्न अरति-अरुचिका न होने देना, धीरतापूर्वक संयमकी भावनासे प्रेम रखना, विषयसुखको विषके समान मानना, और पहिले अनुभव की हुई रतिका स्मरण न करना अरति परीषहका जीतना है ॥ ७ ॥ स्त्रियोंके देखने स्पर्श करने और उनके साथ बातचीत करनेकी अभिलाषा न रखना उनके नेत्र मुख भौंह शृंगार आकृति रूप गति हास्य पीनस्तन जांघ आदिका न देखना और रसपरिपूर्ण गीत आदिका न सुनना स्त्री-परीषहका जीतना है ॥८॥ भयंकर भी वनोंमें गुरुकी आज्ञानुसार देव आदिकी वंदनाकेलिये संयममें किसीप्रकारकी बाधा न आये इसरूपसे गमन करना, मार्गमें कंकर पत्थरोंके पैरमें चुभ जानेपर भी खेद न करना और पूर्वकालके रथ घोड़े आदि सवारियोंका स्मरण न करना चर्या परिषहका जीतना है ॥ ९ ॥ श्मशान आदि स्थानोंपर गाढे हुये वीरासन आदि आसनोंसे घोर उपसर्गके उपस्थित होनेपर भी न चिगना मंत्र

राग द्वेषका अभावरूप तीक्ष्ण खड्ग ले उनका विजय करै। भावार्थ—क्षुधा तृषा आदि परीषहोंके पहिले नाम कह दिये गये हैं-प्रासुक आहारको ग्रहण करनेवाले, 'भोजन न मिलैगा या थोड़ा मिलैगा तो यह वेदना कैसे नष्ट होगी, बहुत समयसे भोजन नहिं मिला है' इसप्रकार विषाद न करनेवाले, भोजनकी वेलासे भिन्न वेला और निंदित देशमें आहार न ग्रहण करनेवाले, आवश्यकोंमें किसीप्रकारकी हानि न करनेवाले, स्वाध्याय और ध्यानमें दत्तचित्त, और भूंखकी तीव्रवेदनाके रहनेपर भी भोजनके लाभसे उसके अलाभको उत्तम माननेवाले मुनिका जो क्षुधाजन्य बाधाका सहलेना है वह क्षुधा परीषहका विजय है ॥१॥ प्यासकी तीव्र वेदनाके होनेपर भी उसकी शांतिकेलिये चेष्टा न करनेवाले, भोजनके समय इशारा आदिसे अपने योग्य भी जलकी प्रार्थना न करनेवाले मुनिका जो प्यासकी बाधा सहलेना है वह पिपासा परीषहका जीतना है ॥ २ ॥ अधिक ठंडी पड़नेपर भी उसके दूर करनेका उपाय न करना, शरीरमें ममता, पूर्वकालमें अनुभूत उष्णताका स्मरण और किसीप्रकारका विषाद न करना सो संयमके पालनमें सहायता पहुंचानेवाला शीत परीषहका जीतना है॥३॥सूर्य आदिके संतापके दूर करनेकेलिये उपाय न करना और शीतपदार्थकी प्रार्थना न करना उष्णपरीषहका जीतना

है उससमय उत्तम धर्मकी प्राप्ति होती है। भावार्थ–जबतक मुनिके चित्तमें कषायोंकी विद्यमानता रहती है तब तक कभी उसके चित्तमें क्रोध, तो कभी मान, कभी माया और कभी लोभका सदा क्षोभ बना रहता है क्षणभरकेलिये भी मुनिका चित्त शांत नहिं रहने पाता किंतु जिससमय कषाय सर्वथा नष्ट हो जाते हैं उससमय मन शांत हो जाता है और जिससमय मन शांत हो जाता है उससमय उत्तम धर्मकी प्राप्ति होती है इसलिये जो उत्तम धर्म–स्वस्वभावकी प्राप्तिके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे चित्त क्षोभके विनाशार्थ क्रोध आदि कषायोंका सर्वथा परिहार करदें ॥ ३९ ॥ अब ग्रंथकार परीषहोंकी संख्या और उनका स्वरूप बतलाते हैं—

सीयाई वावीसं परिसहसुहडा हवंति णायव्वा।
जेयव्वा ते मुणिणा वरउवसमणाणखग्गेण ॥ ४० ॥

शीतादयो द्वाविंशतिः परीषहसुभटा भवति ज्ञातव्याः।
जेतव्यास्ते मुनिना वरोपशमज्ञानखड्गेन ॥ ४० ॥

अर्थ–शीत आदि वावीस परीषह हैं। मुनिको चाहिये कि वह उत्कृष्ट उपशमज्ञान-

अर्थ—इसलिये ज्ञानियोंका कर्तव्य है कि वे सदा कषायोंको कृष करते रहैं क्योंकि जिससमय कषाय कृष हो जाते हैं उससमय मुनिध्यानमें स्थिर हो जाता है। भावार्थ-जबतक ध्यानमें स्थिरता नहिं होती तबतक परमात्माका चिंतवन नहिं होता और ध्यानमें स्थिरता उसीसमय होती है जिससमय कषाय कृश हो जाते हैं इसलिये जो मुनि-परमात्माके स्वरूपके चिंतवनके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे ध्यानकी स्थिरताके लिये अवश्य कषायोंको कृश करैं ॥ ३८ ॥ जिससमय कषाय सन्यस्त हो जाते हैं उससमय क्या फल प्राप्त होता है?—

सल्लेहिया कसाया करंति मुणिणो ण चित्तसंखोहं।
चित्तक्खोहेण विणा पडिवज्जादि उत्तमं धम्मं ॥ ३९ ॥

सल्लेखिताः कषायाः कुर्वंति मुनेर्न चित्तसंक्षोभं।
चित्तक्षोभेण विना प्रतिपद्यते उत्तम धर्मं ॥ ३९ ॥

अर्थ—जिससमय कषाय सन्यस्त-कृशताको प्राप्त हो जाते हैं उससमय मुनिके चित्तको किसीप्रकारका क्षोभ नहिं होता और जिससमय चित्तका क्षोभ नष्ट हो जाता

आदि कषाय विद्यमान रहते हैं वह कपायी कहा जाता है। जबतक कषायोंकी विद्यमा-
नता रहती है तबतक छै कायके जीवोंकी रक्षारूप संयमकी प्राप्ति नहिं होती अर्थात्
क्रोध आदिके संबंधसे सदा जीवोंको पीड़ा पहुचानेके ही परिणाम बनें रहते हैं तथा
जबतक संयमका उदय नहिं होता तबतक जो गुण आत्माको विशुद्ध बनानेवाले हैं वे
गुण भी प्रकट नहि होते इसलिये यदि क्षपक यह चाहता है कि मेरी आत्मामे वास्त-
विक गुण प्रकट होजाय–मुझे मेरे असली स्वरूपकी प्राप्ति होजाय तो उसे चाहिये कि
वह कषायोंका सर्वथा त्यागकर संयमी बनै ॥ ३७ ॥ यदि कषाय मोजूद हों
तो उनका क्या करना चाहिये ? और वैसा करनेसे क्या लाभ होता है इसबातको
ग्रंथकार बतलाते हैं—

तम्हा णाणीहिं सया किसियरणं हवइ तेसु कायव्वं।
किसिएसु कसाएसु य सवणो झाणे थिरो हवइ ॥ ३८ ॥

तस्मात् ज्ञानिभि. सदा कृषीकरण भवति तेषु कर्तव्य ।
क्षपितेषु कषायेषु च श्रमणो ध्याने स्थिरो भवति ॥ ३८ ॥

का सद्भाव रहता है। मुनियोंको भी ये अपने आधीन किये रहते हैं और देखते २ मुनियोंके मनको विक्षिप्त बना देते हैं इसलिये सुदुर्जय हैं-सुलभतासे इनका जीतना नहिं हो सकता तथा इनके चक्रमें पड़कर ये तीनों लोक इस चतुर्गतिरूप भयंकर संसारमें घूमते फिरते हैं इसलिये क्षपकको चाहिये कि वह ऐसे दुष्ट कषायोंका सर्वथा त्याग करदे ॥ ३६ ॥ जबतक क्षपकके कषाय नष्ट नहिं होते तबतक उसकी कैसी दशा रहती है इसबातको ग्रंथकार खुलामा रूपसे बतलाते हैं-

जाम ण हणइ कसाए स कसाई णेव संजमी होइ ।
संजमरहियस्स गुणा ण हुंतिं सव्वे विसुद्धियरा ॥ ३७ ॥

यावन्न हति कषायान् स कषायी नैव सयमी भवति ।
संयमरहितस्य गुणा न भवति सर्वे विशुद्धिकरा. ॥ ३७ ॥

अर्थ--जबतक क्षपक क्रोध आदि कषायोंका नाश नहिं करता तबतक वह कषायी गिना जाता है जो कषायी रहता है वह संयमी नहिं हो सकता और संयमके अभावमें आत्माको विशुद्ध बनानेवाले गुण भी उत्पन्न नहिं हो सकते। भावार्थ-जिसके क्रोध

करता उस मुनिकी समस्त सल्लेखना व्यर्थ है इसलिये जिस मुनिको स्वस्वरूपके आ-राधनकी अभिलाषा है उसै चाहिये कि वह पहिले कषायोंकी सल्लेखना-सर्वथा नाश करै पश्चात् शरीरको कृश करनेका उद्योग करै ॥ ३५ ॥ कषायोंमें क्या तो शक्ति है ? और जगतका ये क्या अपकार करते हैं ? इसबातको ग्रंथकार बतलाते हैं—

अत्थि कसाया बलिया सुदुज्जया जेहिं तिहुअणं सयलं।
भमइ भमाडिज्जंतो चउगइभवसायरे भीमे ॥ ३६ ॥

अस्ति (सति) कषाया बलिनः सुदुर्जया यैस्त्रिभुवन सकलं।
भ्रमति भ्राम्यमानं चतुर्गतिभवसागरे भीमे ॥ ३६ ॥

अर्थ—ये कषाय महा बलवान हैं। बडे दुःखसे जीते जासकनेके योग्य हैं और कषायोंके द्वारा चतुर्गतिरूप भयंकर संसारमें घुमाये हुये ये तीनों लोक सदा घूमते फिरते हैं। भावार्थ—आत्मा अनंत शक्तिका धारक है परंतु इन कषायोंने अनादिकाल-से कर्मोंका संबध कराकर और स्वाभाविक चैतन्यस्वरूपको आच्छन्न कर आत्माको अपने आधीन बनालिया है इसलिये ये महाबलवान हैं। ग्यारहवे गुणस्थानतक इन-

कषाय मंद हो जाते हैं तथा वह परमात्माका आराधन कर सकता है ॥ ३४ ॥

जिसने कषायोंको नहिं जीता और जो वाह्य योगसे ही शरीरके सन्यासको करनेवाला है उस मुनिके सल्लेखना विफल होती है इसबातको ग्रंथकार बतलाते हैं–

सल्लेहणा सरीरे वाहिरजोएहिं जा कया मुणिणा।
सयलावि सा णिरत्था जाम कसाए ण सल्लिहदि ॥ ३५ ॥

सल्लेखना शरीरे वाह्ययोगैः या कृता मुनिना ।
सकलापि सा निरर्था यावत्कषायान्न सल्लिखति ॥ ३५ ॥

अर्थ–कषायोंका त्याग न कर जो मुनि वाह्य योगोंसे शरीरमें सल्लेखना-कृशता करता है उस मुनिकी समस्त सल्लेखना निरर्थक जाती है। भावार्थ–स्वस्वरूपके आराधनमें कषायोंका सर्वथा नाश अत्यत आवश्यक है क्योंकि जबतक कषायोंकी विद्यमानता रहती है तबतक चित्त सदा वाह्य पदार्थोंमें भटकता फिरता है और वाह्य पदार्थोंमें चित्तके भटकनेसे स्वस्वरूपका आराधन नहिं हो सक्ता। जो मुनि शरीरकी कृशताके लिये शरदी गरमी आदि घोर क्लेशोंको सहता है परतु कषायोंकी सल्लेखना नहिं

योगसे है, ऐसा सदा विचार करता रहता है वह पुरुष परमार्थ निर्ग्रंथ हो स्वस्वरूपका आराधन करनेवाला होता है ॥ ३३ ॥ कषायसल्लेखनाका धारक क्षपक कैसा होता है इस बातको ग्रंथकार कहते हैं–

इंदियमयं सरीरं णियणियविसएसु तेसु गमणिच्छा ।
ताणुवरिं हयमोहो मंदकसाई हवइ खवओ ॥ ३४ ॥

इंद्रियमयं शरीरं निजनिजविषयेषु तेषु गमनेच्छ ।
तेषामुपरि हतमोहो मंदकषायो भवति क्षपकः ॥ ३४ ॥

अर्थ–इंद्रियोंका समुदायस्वरूप शरीर अपने अपने विषयोंमें गमनशील है जिससमय क्षपक इंद्रियोंके ऊपर हतमोह-ममत्वरहित हो जाता है उससमय वह मंदकषायी कहा जाता है । भावार्थ–स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु और श्रोत्र इन पांच इंद्रियस्वरूप शरीर है और इंद्रियां अपने २ विषयके ग्रहण करनेलिये सदा लालायित रहतीं हैं किंतु जिससमय क्षपक अपने इंद्रियस्वरूप शरीरको वश करलेता है अर्थात् स्पर्शन आदि इंद्रियोंको स्पर्श आदि विषयोंकी ओर ऋजु नहिं होने देता उससमय उसके क्रोध आदि

देहो वाहिरगंथो अण्णो अक्खाण विसयअहिलासो।
तेसिं चाए खवओ परमत्थे हवइ णिग्गंथो॥ ३३ ॥

देहो वाह्यग्रंथः अन्यः अक्षाणा विषयाभिलाषः।
तयोस्त्यागे क्षपकः परमार्थेन भवति निर्ग्रंथः॥ ३३ ॥

अर्थ–जिससमय क्षपक वाह्य परिग्रह शरीर और अभ्यंतर परिग्रह इंद्रियोंके विषयोंकी अभिलाषाका त्याग करदेता है उससमय वह परमार्थ निर्ग्रंथ–स्वस्वरूपका आराधक होता है। भावार्थ–शरीरको सब लोग स्पष्टरूपसे देख सकते हैं इसलिये वह वाह्य परिग्रह है और स्पर्श आदि इंद्रियोंके विषयोंकी अभिलाषा दीखती नही इसलिये वह अभ्यंतर परिग्रह है जो महानुभाव दोनों प्रकारके परिग्रहका सर्वथा त्याग कर देता है और–

एको मे शाश्वतश्चात्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः।
शेषा बहिर्भवा भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः॥

अर्थात्–अकेला अविनाशी और ज्ञान दर्शनस्वरूप लक्षणका धारक आत्मा मेरा है और शेष पदार्थ मेरे नही वाह्य हैं क्योंकि उनकी उत्पत्ति कर्म और आत्माके सं-

जाम ण गंथं छंडइ ताम ण चित्तस्स मलिणिमा मुंचइ
दुविहपरिग्गहचाए णिम्मलचित्तो हवइ खवओ ॥ ३२ ॥

यावन्न ग्रंथं त्यजति तावन्न चित्तस्य मलिनिमान मुंचति ।
द्विविधपरिग्रहत्यागे निर्मलचित्तो भवति क्षपकः ॥ ३२ ॥

अर्थ—जबतक क्षपक परिग्रहका त्याग नहिं करता तबतक उसके चित्तका मालिन्य भी नहिं छूटता किंतु जिससमय दोनोंप्रकारके परिग्रहोंका त्याग हो जाता है उससमय उसका चित्त निर्मल हो जाता है। भावार्थ—जबतक परिग्रहका संबंध रहता है तबतक चित्तमें मालिन्य बना रहता है अर्थात् स्त्री पुत्र आदि मेरे प्रिय हैं। विष कंटक वैरी आदि अप्रिय हैं इसप्रकारके राग द्वेष आदि भावोंकी सदा मोजूदगी रहती है किंतु जिससमय दोनोंप्रकारके परिग्रहका सर्वथा नाश होजाता है उससमय चित्तमें किसीप्रकारकी मलिनता नहिं रहती सर्वथा चित्त निर्मल हो जाता है इसलिये क्षपकको चाहिये कि वह चित्तकी निर्मलताके लिये दोनोंप्रकारके परिग्रहका सर्वथा त्याग करदे ॥ ३२ ॥

सामान्यरूपसे निर्ग्रंथका स्वरूप प्रतिपादनकर अब ग्रंथकार परमार्थ निर्ग्रंथका स्वरूप प्रतिपादन करते हैं—

कर लिया और निरंतर विषय सुखकी प्राप्तिके लिये वाणिज्य आदि व्यापारभी करने प्रारंभ कर दिये इसलिये इस सन्यासरूपी भयंकर संग्रामसे छिन्न भिन्न और परीषह रूपी वलवान सुभटोंसे हारकर वहुतसे मनुष्य तपकी प्रतिज्ञासे च्युत होगये हैं और उन्होंने वस्त्र भोजन आदि शरीरसंबंधी सुखका अवलंबन कर लिया है । अतः जो मनुष्य परमात्माके आराधनके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे संन्यासरूपी संग्राममें अड़कर परीषह सुभटोंका निर्भय हो वार सहैं और भयभीत हो शरीर सुखका शरण न लेकर शुद्ध आत्माका शरण लें ॥ ४१ ॥ परीषहोंसे तिरस्कृत मुनि किस भावनासे परीषहोंका विजय कर सकता है उसका स्वरूप वतलाते हैं—

दुक्खाइं अणेयाइं सहियाई परवसेण संसारे ।
इण्हं सवसो विसहसु अप्पसहावे मणो किच्चा ॥ ४२ ॥

दुःखान्यनेकानि सोढानि परवशेन संसारे ।
इदानीं स्ववशो विषहस्व आत्मस्वभावे मनः कृत्वा ॥ ४२ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! पराधीन—कर्मोंके अधीन हो तूने संसारमें अनेक दुःख सहे

है अथ आत्मस्वभावमें चित्त लगाकर स्वाधीन हो इन दुःखोंको सह। भावार्थ—जिस-समय क्षुधा प्यास शीत उष्ण आदिकी तीव्र परीषह सहनेका अवसर मिलजाय उस-समय मुनिको यह भावना करनी चाहिये कि—हे आत्मन् ! जन्म जरा मरणसे व्याप्त इस चतुर्गतिरूप संसारमें कर्मोंके आधीन हो तूने तिल तिल भर शरीरका छिदना कट जाना, तेलसे भरे हुये तप्त कटाहोंमें पडना, असिपत्रोंसे शरीरके खंड २ हो जाना, गरम २ बालूमें नृत्य करना, आपसमें लडकर एक दूसरेके शस्त्रसे कट जाना, आरा आदिसे चिरजाना, अत्यंत भारका ढोना, बंधना, जलना, शीत उष्णकी बाधा सहना, दरिद्र होना, पुत्र प्रियाका वियोग सहना, राजासे तिरस्कार और जूआ आदि दुर्व्यसनजन्य पीडाका सहना, दूसरेकी विपुल ऋद्धिसे मनमें क्लेश होना आदि अनेक घोरसे घोर क्लेश सहे हैं इससमय यद्यपि तेरे ऊपर घोर अपत्ति आकर पडी है तथापि यह तेरे अधीन है क्योंकि स्त्री पुत्र आदिसे विरक्त होकर सन्यास धारण कर इन परीषहोंको स्वयं तेने अपने ऊपर आनेकी आज्ञा दी है इसलिये शुद्ध आत्मामें मनको लगाकर प्रसन्नतासे उन्हें सहना चाहिये ॥ ४२ ॥ परीषहोंके तीव्र दुःखसे दुखित मुनि जिससमय परम उपशमसंबंधी भावना भाता है उससमय उसके कर्मोंका नाश होता है यह अब कहते हैं—

अइतिव्ववेयणाए अक्कंतो कुणसि भावणा सुसमा ।
जइ तो णिहणासि कम्मं असुहं सव्वं खणद्धेण ॥ ४३ ॥

अतितीव्रवेदनया आक्रांत करोषि भावनां सुसमां ।
यदि तदा निहंसि कर्म अशुभ सर्वं क्षणार्धेन ॥ ४३ ॥

अर्थ–हे आत्मन् ! परीषहोंकी तीव्र वेदनासे दुःखित होकर जिससमय तू परम उपशम भावना करेगा उससमय अर्ध क्षणमें तेरे समस्त अशुभ कर्म नष्ट हो जांयगे। भावार्थ–शरीर आदि मेरे हैं, मैं इनका हूं, इत्यादि विचारोंका निग्रह करना, जिसप्रकार मेघसे आकाश विकृत नहिं होता उसीप्रकार जन्म जरा रोग आदि विकार भी मेरी विशुद्ध आत्माको विकृत नहिं बना सकते, उनसे शरीर विकृत बन सकता है इस प्रकारका विचार करना तथा मोहजनित और भी नानाप्रकारके संकल्प विकल्पोंको नष्ट कर शुद्धचिद्रूपमें स्थिति करना सुसमा भावना है। जो मुनि भूख प्यास शीत उष्ण दंश मशक आदिकी तीव्र वेदनासे आक्रांत होकर विशुद्ध भावोंसे उपर्युक्त भावनाको भाता है उसके देखते २ समस्त अशुभ कर्म नष्ट हो जाते है किंतु

जबतक उपर्युक्त भावनाका अवलंबन नहीं किया जाता तबतक अशुभ कर्मोंका नाश नहीं हो सकता इसलिये मुनिको चाहिये कि वह परीषहोंकी तीव्र वेदनाके उपस्थित हो जाने पर भी परमात्माकी भावना अवश्य करै ॥ ४३ ॥ परिषहोंके सहनेमें असमर्थ हो यदि कोई मुनि चारित्रका त्याग कर देता है तो उसै इस लोक परलोकमें क्या फल मिलता है ? इसबातको कहते हैं—

परिसहभडाण भीया पुरिसा छंडंति चरणरणभूमी ।
भुवि उवहासं पविया दुक्खाणं हुंति ते णिलया ॥ ४४ ॥

परीषहभटेभ्यो भीताः पुरुषास्त्यजति चरणरणभूमिं ।
भुवि उपहास प्राप्ता दुःखाना भवति ते निलयाः ॥ ४४ ॥

अर्थ–जो पुरुष परीषह सुभटोंसे भयभीत होकर चारित्ररूपी संग्राम भूमिको छोड भगते हैं वे संसारमें हास्यपात्र बनते हैं और अनेक प्रकारके दुखोंका उन्हें सामना करना पडता है । भावार्थ–जिसप्रकार शूरवीरोंसे भयभीत होकर संग्रामसे पीठ दिखानेवाला पुरुष संसारमें हंसीका पात्र बनता है और राजदंड निं ।

अनेक प्रकारके दुखोंको सहता है उसीप्रकार जो पुरुष चारित्ररूपी विस्तीर्ण संग्राम भूमिमेंसे यह जानकर भी कि व्रत समिति गुप्ति आदि विशाल योधाओंके सामने किसीकी दाल नहिं गल सकती, निर्बल हो परीषहरूपी न कुछ सुभटोंसे भयकर उसे पीठ दिखाकर भग आता है--चारित्रका पालन करना छोड देता है उस पुरुषकी सब लोग हंसी करते हैं और चारित्रसे भ्रष्ट होजानेपर उसे नर नारक आदि गतियोंमें भ्रमणकर तीव्र दुःख भोगने पडते हैं इसलिये जो पुरुष संसारमें हंसीसे भय करनेवाले हैं और संसारके दुखोंको भोगना नहिं चाहते उन्हें चाहिये कि वे चारित्रको प्राप्त होकर परीषहोंके भयसे उससे विमुख न हों किंतु परीषहरूपी सुभटोंकी कठिन मार झेलते हुये भी आगे ही बढते चले जांय। अखंड अविनाशी मोक्ष राज्यको पाकर कीर्तिका उपार्जन करें एवं समस्त प्रकारके दुखोंसे छूटें ॥ ४४ ॥ परीषहोंसे भयकर तीनों गुप्तियोंका आश्रय करना चाहिये और मनको मोक्षमें लगाना चाहिये अब यह ग्रंथकार बतलाते हैं—

परिसहपरिचक्काभिओ जइ तो पइसेहि गुत्तितयगुत्तिं।
ठाणं कुण सुसहावे मोक्खगयं कुणसु मणवाणं ॥ ४५ ॥

परीषहपरचक्रभीतो यदि तदा प्रविश गुप्तित्रयगुप्तिं ।
स्थान कुरुष्व स्वस्वभावे मोक्षगतं कुरुष्व मनोवाण ॥ ४५ ॥

अर्थ–जिससमय परीषहरूपी शत्रुसेनासे मुनिको भय हो उससमय उसै तीनों गुप्तिरूपी अगम्य दुर्ग- किलेमें प्रवेशकरना चाहिये और बाणके समान चंचल मनको स्वस्वरूप–मोक्षमें लगाना चाहिये। भावार्थ–योग–मन वच कायका भलेप्रकार निरोध करना गुप्ति है और वह मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्तिके भेदसे तीन प्रकारकी है। इस गुप्तित्रयको ही परिषहरूपी शत्रुओंकेलिये अगम्य किला चित्चमत्कारमात्र परब्रह्मस्वरूप वतलाया है अर्थात् आत्माकी चिच्चमत्कारमात्र परमब्रह्मस्वरूप अवस्थामें ही भलेप्रकार मनोगुप्ति आदि गुप्तियां होती हैं इसलिये निश्चयनयसे वे चिच्चमत्कारमात्र परमब्रह्मस्वरूप ही हैं तथा मन वचन कायकी गुप्तिमें कारण परमसमयसार-परब्रह्म परमात्माकी भावना प्रधान कारण है क्योंकि जबतक परमब्रह्म परमात्माकी विशुद्ध भावोंसे भावना नहिं की जाती तबतक गुप्तियोंकी प्राप्ति नहिं होती। समयसार कलशमें भी यह ही कहा है––

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पैरयमिह परमार्थश्चित्यतां नित्यमेकः ।

आ. ८६

स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रान्न खलु समयसारादुत्तरं किंचदस्ति ॥

अर्थात्—अधिक बोलने और अनेकप्रकारके दुर्विकल्प-संकल्प विकल्पोंकी आव-
श्यकता नहीं। यहांपर कर्ममलोंसे रहित एक और परम समयसार विद्यमान है सदा
इसीकी भावना करो क्योंकि आत्मिक रसस्वरूप पूर्णविज्ञानकी प्रगटताके धारक समय-
सारसे भिन्न कोई भी पदार्थ उत्तम नहीं। जब मुनिको यह मालूम पड़े कि परीषहरूपी
शत्रु सेनाका मुझपर भयंकर वार होरहा है-भूख प्यासकी वेदना मुझे बुरी तरह सता
रही है उससमय उसे परमब्रह्म परमात्माकी भावना कर इस गुप्तिरूपी सुरक्षित किले-
का अवलंबन करना चाहिये। सहज शुद्ध चिदानंद चैतन्यस्वरूपमें स्थिति और इंद्रिय
विषयोंमें घूमनेवाले बाणके समान चंचल मनको समस्त कर्मोंके अभावस्वरूप मोक्षमें
स्थिर करना चाहिये। अन्यथा परिषह सुभट चारित्ररूपी संग्राममें घायलकर संसार-
रूपी कैदखानेमें पटकदेंगे और वहांपर अनते दुःख सहने पडेंगे ॥ ४५ ॥ परीषहोंकी
वेदनासे तप्त पुरुष यदि ज्ञानरूपी शीतल सरोवरमें प्रविष्ट होता है तो क्या प्राप्त करता
है इसबातको आचार्य कहते हैं—

परिसहदवग्गितत्तो पइसइ जइ णाणसरवरे जीवो।

ससहावजलपसित्तो णिव्वाणं लहइ अवियप्पो ॥ ४६ ॥

परिषहदवाग्नितप्तः प्रविशति यदि ज्ञानसरोवरे जीवः ।

स्वस्वभावजलप्रसिक्तो निर्वाणं लभते अविकल्प· ॥ ४६ ॥

अर्थ–परीपहरूपी दावानलसे संतप्त हुआ जीव जब निर्विकल्प हो ज्ञानरूपी शीतल स्वच्छ सरोवरमें प्रवेश करता है और स्वस्वभावरूपी जलमें स्नान करता है उससमय इसै निर्वाण-मोक्षधामकी प्राप्ति होती है। भावार्थ–जिसप्रकार दावानलसे संतप्त मनुष्य शीतल जलसे भरे हुये सरोवरमें प्रवेश कर और मनमानी डुबकी मार मार स्नानकर शांतिलाभ करता है उसीप्रकार जो मनुष्य शरीरसंतापके कारण भूंख प्यास शीत उष्ण आदि परीपहोंसे खिन्न होकर जिससमय ज्ञान अर्थात् परीपह जिसै दुःख पहुंचा सकते हैं वह मैं नहीं हूं वह शरीर है, मैं चिदानद चैतन्यस्वरूपका धारण करनेवाला हूं मेरे पास परीषहोंका लेश भी नहिं फटक सकता इसप्रकारके भेदविज्ञानरूपी सरोवरमें प्रवेश करता है और वहां सहजशुद्ध निर्विकार परमात्मस्वरूप मेघसे उत्पन्न आत्मिक शुद्ध परमानंदमयी स्वभावमें मनमाना अवगाहन-स्नान करता है उस समय वह संसारसंबंधी समस्त संकल्प विकल्पोंका सर्वथा त्याग करदेता है एवं परम-

शांतिस्वरूपको प्राप्त होता है जहां कि उसे संसारका कोई भी दुःख नहिं सहना पड़ता इसलिये परमात्मपदके अभिलाषी मुनिको चाहिये कि जब वह अपने चित्तको परीषह रूपी दावानलसे संतप्त देखे उससमय भेदविज्ञानरूप सरोवरमें प्रवेशकर स्वस्वभाव जलमें गोते लगावे ॥ ४६ ॥ यदि कदाचित् मुनिको घोर उपसर्गोंका सामना पडे तो उससमय उसै क्या करना चाहिये ? यह बात कहते हैं—

जइ हुंति कहवि जइणो उवसग्गा वहुविहा हु दुहजणया ।
ते सहियव्वा णूणं समभावणणाणचित्तेण ॥ ४७ ॥

यदि भवति कथमपि यतेरुपसर्गा वहुविधाः खलु दुःखजनकाः ।
ते सोढव्या नूनं समभावनज्ञानचित्तेन ॥ ४७ ॥

अर्थ—यदि किसीतरह नानाप्रकारके दुःखदेनेवाले उपसर्ग मुनिकेलिये आकर उपस्थित हो जांय तो उसै चाहिये कि वह समभावोंसे उन्हैं अवश्य सहै-उपसर्गोंसे भयभीत हो चारित्रसे न चिगे । भावार्थ-राग द्वेष न कर दुःख सुख शत्रु मित्र वन भवन अलाभ लाभ काच सुवर्ण आदिको समान मानना किसीको अच्छा बुरा न विचारना समभावना है सोही (ज्ञानार्णवमें) कहा भी है—

सौधोत्संगे श्मशाने स्तुतिशपनविधौ कर्दमे कुंकुमे वा
पल्यंके कंटकाग्रे दृषदि शशिमणौ चर्मचीनांशुकेषु।
शीर्णांगे दिव्यनार्यामसमशमवशाद्यस्य चित्तं विकल्पै-
र्नालीढं सोयमेकः कलयति कुशलः साम्यलीलाविलासं॥

अर्थात्–उत्तमसमताकेस्थान जिस महात्माका मन महल मरघट, स्तुति निंदा, कीचड केसर, सेज ककरीली भूमि, पत्थर चंद्रकांतमणि, चाम चीन देशके वस्त्र, शीर्ण शरीर और देवांगनामें ऊंच नीचका विकल्प नहिं करता-सबको समान रूपसे समझता है वह मुनि शाम्यभावका धारक गिना जाता है अर्थात् महल मरघट आदि उत्तम हीन दोनों पदार्थोंको समानरूपसे मानना साम्यभावना है। यदि किसी कारणसे नानाप्रकारके दुःख देनेवाले घोर उपद्रव आकर उपस्थित हो जाय तो मुनिको चाहिये कि वह समभावसे समस्त उपद्रवोंको सहन करै-घोर वेदनाके होनेपर भी अपने शुद्धस्वरूपसे विचलित न होवे.॥ ४७॥ क्योंकि––

णाणमयभावणाए भाविय चित्तेहिं पुरिससीहेहिं।
सहिया महोवसग्गा अचेयणादीय चउभेया॥ ४८॥

ज्ञानमयभावनया भावितचित्तैः पुरुषसिंहैः ।
सोढा महोपसर्गा अचेतनादिकाश्चतुर्भेदा. ॥ ४८ ॥

अर्थ—जिन पुरुषोंके चित्तमें सदा ज्ञानस्वरूप भावना विराजमान रहती है ऐसे उत्तम पुरुषोंने अचेतन आदि चारो प्रकारके घोर उपसर्गोंको सहा है । भावार्थ—देवकृत मनुष्यकृत तिर्यंचकृत और अचेतनकृत ये चार प्रकारके उपसर्ग हैं जिससमय मुनिगण ध्यानमें लीन होते हैं उससमय उनमें बहुतोंको देव आदि द्वारा घोर उपद्रव सहने पड़ते हैं किंतु पुरुषोंमें सिंहके समान वे मुनि अपने चित्तको ज्ञानमय भावनामें लीनकर उन उपसर्गोंको सहते हैं और अपने शुद्धात्मध्यानसे जरा भी नहिं चलित होते॥४८॥

किन किनने कौन कौनसे उपसर्ग सहे हैं ? इस प्रश्नके उत्तमें ग्रंथकार अचेतनकृत उपसर्ग और तिर्यंचकृत उपसर्गोंके सहनेवाले महानुभावोंके नामका उल्लेख करते हैं—

सिवभूइणा विसहिओ महोवसग्गो हु चेयणारहिओ ।
सुकुमालकोसलेहि य तिरियंचकओ महाभीमो ॥ ४९ ॥

शिवभूतिना विषोढो महोपसर्गः खलु चेतनारहित ।

सुकुमालकोसलाभ्यां च तिर्यक्कृतो महाभीमः ॥ ४९ ॥

अर्थ–राजकुमार शिवभूतिने अचेतनकृत घोर उपसर्ग और सुकुमाल और कोसल मुनियोंने तिर्यंचकृत भयंकर उपद्रव सहा था। कुमार शिवभूतिको क्या और कैसे अचेतन कृत उपसर्ग सहना पड़ा था इसवातका यहां उल्लेख करते हैं—

चंपापुरीमें प्रचंड पराक्रमका धारक विक्रमनामका राजा राज्य करता था। उसके शिवभूति नामका पुत्र था जो विभूतिमें ईश्वरकी तुलना करता था। एक दिन राजकुमार शिवभूति सानंद बैठे थे कि अचानक ही उनकी दृष्टि आकाशकी ओर गई और उसीकालमें उत्पन्न हुई आंधीसे जल परिपूर्ण मेघको पलभरमें खंड खंड रूपमें छिन्न भिन्न देख सहसा उनके मनमें ये विचार तरंगे उछलने लगीं–अहा इस संसारको सर्वथा धिक्कार है। जहांपर जरा भी सुख दृष्टिगोचर नहिं होता प तु ये मूढ़ जीव क्यों इस बातको नहिं समझते। हाय !!! मोहसे अंध ये जीव क्षणविनाशीक और दुष्ट शरीरकेलिये अनेक प्रकारके आरंभ करते रहते हैं बस इसप्रकार वैराग्यरंग रंजित कुमार शिवभूतिने देखते देखते तृणके समान समस्त भोगोंको जलांजलि देदी और वनमें जाकर दिगंबर दीक्षासे दीक्षित हो गये। कदाचित् योगाभ्यास और दुश्चर तपका अ...

रण करनेवाले मुनिराज शिवभूति वनमें किसी वृक्षके नीचे प्रतिमायोगसे विराजमान थे अचानक ही वांसोके घिसनेसे उत्पन्न जाज्वल्यमान दावानल जलते हुये दारु वृक्ष और फटते हुये वासोंके टूटनेसे महा भयंकर हो समानरूपसे समस्त वनको भस्म करनेलगा और उस निर्दयीने मुनिराजको भी घोर पीडा पहुचानी प्रारंभ करदी। मुनिश्रेष्ठ शिवभूति परम विद्वान और संसारके विचित्र चरित्रसे वास्तवमें भयभीत थे। भला ऐसा भयंकर भी दावानल उनका क्या बाल बांका कर सकता था? वे धीरवीर मुनिराज जलते हुये वृक्षके नीचे बराबर विराजमान रहे। तेजीसे वृक्षके खंडोंने अंगारका रूप धारणकर मुनिका सारा शरीर कदर्थितकर डाला परंतु वे अपने ध्यानसे न चिगे दृढरूपसे घोर उपद्रव सहते रहे। ऐसे ही वीर मुनियोंकी प्रशंसामें समयसारकलशमें कहा है-

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमंते परं
यद्वज्रेऽपि पतंत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शंकां विहाय स्वयं
जानंतः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवंते नहि॥

अर्थात्—ऐसा साहस करनेकेलिये सम्यग्दृष्टि पुरुष ही समर्थ हो सकते हैं जहां-

पर कि वज्र गिर रहा है और भयसे कंपायमान तीनोंलोकने जहांका मार्ग छोड़ दिया है वहांपर स्वभावसे ही समस्त शंकाको छोडकर और अपनेको अखंड ज्ञानस्वरूप शरीरका धारक जानकर कभी भी अपने ज्ञान–ध्यानसे विचलित नहिं होते। वस इस घोर उपसर्गके समय मुनिराज शिवभूतिने परमब्रह्म परमात्माकी भावना की कर्मोंके सर्वथा नाशसे केवलज्ञान प्राप्तकर अविनाशी मोक्षसुखका अनुभव किया।

अब तिर्यंचकृत उपसर्गके सहन करनेवाले महात्मा सुकुमाल और सुकोसलकी कथाका कुछ उल्लेख किया जाता है–जंबूद्वीपके भरत क्षेत्रकी कौशांबी नगरीका शासन करनेवाला राजा अतिबल था जिसको अनेक राजा मस्तक झुकाकर नमस्कार करते थे। राजा अतिबलका पुरोहित जो अत्यंत प्रतिष्ठित था चारो वेदोंका वेत्ता था। व्याकरण न्याय काव्यशास्त्रमें पूर्ण निष्णात था और विष्णुका भक्त सोमशर्मा था। पुरोहित सोमशर्माके अग्निभूति और वायुभूति नामके दो पुत्र थे। जब ये दोनों पुत्र विद्या पढनेके योग्य हुये तो एक दिन सोमशर्माने उनसे कहा–रे पुत्रो! अब तुम्हें शास्त्राभ्यास करना चाहिये क्योंकि–जो पुरुष शास्त्रोंका ज्ञाता बुद्धिशाली होता है सब लोग उसका सत्कार करते हैं। जो विषय नेत्रोंके

गोचर नहीं उसविषयके जनानेके लिये शास्त्र तीसरा नेत्र है । नेत्रधारी भी पुरुष यदि विद्वान्-शास्त्रोंका ज्ञाता नहीं तो सब लोग उसे अंधा ही कहते हैं इसलिये तुम्हारे लिये शास्त्राभ्यास परम आवश्यक है" परंतु दोनों पुत्रोंने उसकी वातपर जरा भी ध्यान न दिया। उलटा पिता माताको और दुःखी करने लगे। ठीक भी है--

प्रायो मूर्खस्य कोपाय सन्मार्गस्योपदेशनं ।
निर्लूननासिकस्येव विशुद्धादर्शदर्शनं ॥

अर्थात्-जिसप्रकार कटी नाकवाले पुरुषको निर्मल भी दर्पणका दिखाना क्रोधका कारण होता है-दर्पणको देखते ही उसे क्रोध छूटता है उसीप्रकार जो पुरुष मूर्ख है उसे सन्मार्गका भी उपदेश क्रोध उत्पन्न करता है । पुत्रोंकी दुष्ट चेष्टासे सोमशर्माको बडा क्लेश हुआ । अधिक विषय भोग करनेसे थोडे दिन बाद उसके भयंकर रोग हो गया जिससे वह अकालमें ही यमराजके घरका अतिथि बन गया। पिताके मरजानेपर बहुत दिनतक अग्निभूति वायुभूतिने सुखके गुलछर्रे उडाये। एक दिन राजाने उन्हें सभामें बुलाया और इन्हें पुरोहितके पुत्र होनेसे विद्वान समझकर किसी वेदकी ऋचाका अर्थ पूछा । ये दोनों भाई शास्त्रसे विलकुल कोरे थे भला ये वेदकी ऋचाको क्या जाने। झखमार उन्हें उससमय यही कहना पडा कि--

"देव ! हम इसबातको नहिं जानते।" पुरोहित पुत्रोंका यह वचन सुन राजाको बडा क्रोध आया। उसने "ब्राह्मणोंका अध्ययन तथा देवोंका पूजन न करना परम अनिष्ट कारक है" इस नीतिका स्मरण कर उन दोनों कुमारोंसे पुरोहित-का पद छीन लिया। जब पुरोहितानीको यह पता लगा कि मेरे पुत्रोंसे पुरोहित पद छीन लिया गया है तो उसै बडा दुःख हुआ। वह सीधी राजा अतिबलके पास पहुंची और विनम्र हो बोली-

'राजन् ! मेरे पुत्रोंकी आजीविका क्यों जप्त करली गई ?' उत्तरमें राजाने कहा--

"तेरे पुत्र निरक्षरभट्टाचार्य हैं इसलिये राजसभामें उनकी किसीप्रकार की भी अ-भीष्या -इच्छा पूरण नहिं की जा सक्ती। क्योंकि--

विद्वज्जनानां खलु मंडलीषु मूर्खो मनुष्यो लभते न शोभां।
श्रेणीषु किं नाम सितच्छदानां काको वराकः श्रियमातनोति ॥

अर्थात्--जिसप्रकार हसोंकी मंडलीमें काक शोभा नहिं पाता उसी प्रकार विद्वा-नोंके मडलमें मूर्ख मनुष्यकी भी शोभा नहिं होती।" यह सुन ब्राह्मणी [illegible]
राजदरवारसे लोट आई और अपने दोनों पुत्रोंको [illegible]

"अरे मेरे यौवनको छिन्नभिन्न करनेवाले कुठारस्वरूप पुत्रो ! राजसभामें तुम लोगोंका पूर्णरूपसे मान खंडित हो चुका है तुम्हें अब मरणका ही शरण लेना उचित है। क्योंकि—

मा जीवन् यः परावज्ञादुःखदग्धोऽपि जीवति ।
तस्याजननिरेवास्तु जननीक्लेशकारिण. ॥

अर्थात् -जो पर पुरुपसे प्राप्त अवज्ञारूपी दुःखसे दुखित हो जीता है उसका न जीना ही उत्तम है अथवा उसकी उत्पत्ति ही व्यर्थ है क्योंकि वह अपनी माको सुख न देकर सदा दुःख दिया करता है।" उत्तरमें पुत्रोंने कहा -

"खैर! मा हुआ सो हुआ। अब अपने क्रोधको शांतकर और बतला हम किस उपायसे विद्या प्राप्त कर सकते हैं?" पुरोहितानीने कहा -राजगृह नगरमें तुम्हारा काका—जो व्याकरण न्याय काव्य शास्त्रोंका पूर्ण ज्ञाता है, परवादियोंका मान मर्दन करनेवाला और समस्त विद्वानोंका शिरोमणि है रहता है इसलिये तुम लोग यहांसे जाकर उसकी सेवा शुश्रूषा करो और विद्याभ्यासकर विद्वान बनो।" बस दोनों द्विज पुत्रोंने माताके वचन स्वीकार करलिये और तत्काल राजगृह नगर आये और सूर्यमित्र

उपाध्यायके घरमें प्रवेश कर उसे भक्तिपूर्वक नमस्कार कर विनम्र हो उसके सामने बैठ गये। ये दोनो भाई परम सुंदर हृष्ट पुष्ट थे, ज्योंही सूर्यमित्रने उन्हें देखा आश्चर्य-विशिष्ट हो इसप्रकार पूछा-"तुम लोग कौन हो? और यहां किसलिये आये हो?" उत्तरमें द्विजपुत्रोंने कहा—

"भगवन्! हमलोग कौशांबीसे आये हैं। पुरोहित सोमशर्माके पुत्र हैं अग्निभूति और वायुभूति हमारे नाम हैं। हम आपकी सेवा शुश्रूपाकर विद्याभ्यास करना चाहते हैं।" यद्यपि सूर्यमित्रको यह मालूम हो गया कि ये मेरे भाईके पुत्र-भतीजे हैं परंतु यह समझकर कि "यदि मै इनको अपना संबंध बतला दूगा तो ये लाड प्यारमें फसकर कुछ भी न पढ सकेंगे" उससमय सब बात छिपाली और रूक्षस्वरसे यह कहा कि—

"यदि तुम लोग विद्या पढना चाहते हो तो व्यसनोंका सर्वथा त्याग करदो क्योंकि व्यसनीको विद्या नहिं आती जैसा कि कहा है—

स्तब्धस्य नश्यति यशो विषमस्य मैत्री
नष्टक्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्मः।

विद्याफलं व्यसनिनः कृपणस्य सौख्यं
राज्यं प्रणष्टसचिवस्य नराधिपस्य ॥

अर्थात्–जडपुरुषका यश, विषम-कुटिल पुरुषकी मित्रता, चारित्रभ्रष्टका वंश, सदा द्रव्य ही उपार्जन करनेवालेका धर्म, व्यसनीका विद्याका फल, कृपणका सुख और मंत्रीके विना राजाका राज्य नष्ट हो जाता है। इसलिये यदि तुम भिक्षावृत्तिसे उदरनिर्वाह करोगे, गुरुकी सेवा और भूमिपर सोओगे तो तुम्हें शास्त्रज्ञानका लाभ मिल सकता है।" उपाध्यायके ये वचन दोनों कुमारोंने स्वीकार करलिये इसलिये उसने भी प्रसन्न हो उन दोनोंको उसदिनसे विद्या पढाना प्रारंभ करदिया। प्रथमही प्रथम सूर्यमित्रने उन दोनोंको सभाष्य व्याकरण पढाया पश्चात् सांगवेद और न्याय शास्त्रोंका भी अध्ययन कराया जिससे वे थोडे ही दिनोंमें प्रबल विद्वान होगये। ठीक ही है गुरुके प्रसन्न होनेपर शिष्य अवश्य पूर्ण विद्वान होजाता है जैसा कि कहा है–

गुरोः प्रसादादपि सदा सुखेन प्रागल्भ्यमायाति विनेयबुद्धिः।
माधुर्यमाम्रोद्भवमंजरीणामास्वादनात्कोकिलवागिवाशु ॥

अर्थात्–आम्र वृक्षसे उत्पन्न मंजरी–बौरको चखकर कोयल जिसप्रकार मीठे

मीठे वचन बोल निकलती है उसीप्रकार गुरुकी प्रसन्नतासे शिष्यकी बुद्धि भी उन्नत हो जाती है–वह सुखपूर्वक समस्त शास्त्रोंमें विद्वान हो जाता है। इसतरह जब अग्निभूति और वायुभूति शास्त्रोंमें पूर्ण विद्वान होगये तो उपाध्याय सूर्यमित्रको परमानंद हुआ उसने अनेक वस्त्र और आभरणोंसे उनका सन्मान किया और आप लोग मेरे भतीजे हैं ऐसा संबंध प्रकाशितकर बडे आदरसे उन्हैं कौशांबी भेज दिया। दोनों कुमारोंने कौशांबी जाकर अपनी प्रखर विद्वत्तासे राजाको राजी कर लिया और फिरसे अपने पदपर स्थिर हो सुखपूर्वक रहने लगे।

एक दिन उपाध्याय सूर्यमित्र किसी जलाशयमें स्नानकर सूर्यको अर्घ दे रहे थे कि अचानक ही उनके हाथसे मुद्रिका जो उन्हैं राजाने दी थी अंगुलीसे निकलकर कमलपत्रके भीतर पड गई और वे सीधे घर चले आये। घर आकर जब उन्होंने मुद्रिका अपनी अंगुलीमें न देखी तो उन्हैं बडा रंज हुआ। मै राजाको क्या उत्तर दूंगा ऐसी वार वार चिंता कर व्याकुल होने लगे। उसीसमय एक सुधर्म नामके मुनिराज जो यम नियम आदिसे भूपित अष्टांग निमित्त शास्त्रके पूर्ण ज्ञाता थे राजगृह नगरमें विराजमान थे। उपाध्याय सूर्यमित्र उनके पास गये और मुदरीका पता पानेकेलिये उनकी सेवा शुश्रूषा करने लगे। उत्तरमें मुनिराजने कहा–

"उपाध्याय ! किसीप्रकारकी चिंता न करो जहांपर तुमने सूर्यकेलिये अर्घ प्रदान किया था वहींपर वह मुद्रिका अंगुलीसे निकलकर कमलपत्रके भीतर गिर गई है कल प्रातःकाल ही जाकर तुम उसै ले आना वह तुम्हैं मिल जायगी। उपाध्याय भी यह गाढ श्रद्धानकर कि मुनिराजके वचन अन्यथा नहिं होते अपने घर लौट आये और प्रात काल वहां पहुंचते ही कमलपत्रके भीतर उन्हें मुदरी मिल गई। मुदरीके प्राप्त होजानेसे सूर्यमित्रको जो खुशी हुई सो तो हुई ही, पर साथ ही उन्होंने यह भी सोचा कि—

अहा दिगंबर मुनियोंमें विलक्षण सामर्थ्य होती है। भूत भविष्यत वर्तमान तीनों कालोंके वे ज्ञाता होते हैं। मुनिराज सुधर्म त्रिकालज्ञ हैं। मुझे भी त्रिकालज्ञताकी प्राप्तिके लिये कपटसे उनकी सेवा करनी चाहिये। विद्याकेलिये हर एक मनुष्यकी सेवा की जा सकती है। जब मै त्रिकालज्ञ हो जाऊंगा उससमय मुझे किसीकी सेवासे प्रयोजन नहीं रहेगा बस ऐसा मनमें दृढ विचार कर मति श्रुति और अवधिज्ञान रूपी नेत्रोंके धारक मुनिराज सुधर्म केपास वे पहुंचे, उन्हें मायाचारीसे भक्तिपूर्वक नमस्कार किया और

रोहणं सुकिरत्नानां वंदे पूतं विपश्चितां।

मध्यं पतितो नीचकाचोऽप्युच्चैर्मणीयते ॥

अर्थात्–जिसप्रकार रत्नोंके मध्यमें जड़ा हुआ काच भी बहुमूल्य रत्न गिना जाता है उसीप्रकार विद्वानोंके मध्यमें नीच भी प्रतिष्ठाका भाजन बन जाता है इसलिये सूक्तिरूपी रत्नोंके स्थान विद्वानोंको मैं नमस्कार करता हूं। यह श्लोक पढ़कर भगवन्! मैं भी आपके प्रसादसे ज्ञानी होना चाहता हूं इसप्रकारकी प्रार्थना करने लगे।" मुनिराज तो सब बात जानते ही थे वे यह जानकर कि यह सूर्यमित्र आसन्न भव्य है इसप्रकार बोले–

"सूर्यमित्र! यदि तुम हमारे समान दिगंबर मुद्रा धारण करो तो ज्ञानी हो सकते हो।" सूर्यमित्रने भी यह विचार कर कि 'अपना क्या हर्ज है दिगंबर होकर भी जब मुझे त्रिकालज्ञता प्राप्त हो जायगी तब घर लौट आऊंगा और पुनः वैसाका वैसा हो जाऊंगा' यह उत्तर दिया–

"स्वामिन्! यदि आपकी यही राय है तो मुझे दिगंबर मुद्रा धारण करनेमें कोई हानि नहीं। कृपया आप दिगंबर दीक्षा प्रदान करैं और मुझपर प्रसन्न होवें।" मुनिराज सुधर्मने सूर्यमित्रको दिगंबर दीक्षा दे दी जिससे वे मुनि हो गये और शास्त्राभ्यासके

माहात्म्यसे मिथ्यात्वका सर्वथा त्यागकर सम्यग्दृष्टि हो दृढरूपसे व्रतोंका परिपालन करने लगे।

तीव्र तपोंको तपनेवाले मुनिराज सूर्यमित्र गुरुकी आज्ञासे एक दिन कौशांबी आये और कई उपवासोंके वाद पारणाकेलिये अग्निभूति और मरुभूतिके घरमें प्रवेश किया । दाताके गुणोंसे भूषित पुरोहित मरुभूतिने नवधाभक्तिसे मुनिराजको विशुद्ध आहार दिया। क्षणभरकेलिये मुनिराज वहीं विराजमान होगये। समस्त ब्राह्मणोंने मुनिराजको नमस्कार किया परंतु वार वार कहनेपर भी मरुभूति उन्हें नमस्कारके लिये राजी न हुआ। उल्टी मुनिराजकी निंदा करने लगा। वायुभूतिका यह निर्घृण वर्ताव देख अग्निभूतिने कहा—

अरे! इस महात्माने तुझे पढाया और इस महिमाको प्राप्त कराया अब तू इसे क्यों नमस्कार नहिं करता ? ओह!

अक्षरस्यापि चैकस्य पदार्थस्य पदस्य च।
दातारं विस्मरन् पापी किं पुनर्धर्मदेशिनं॥

अर्थात्—जो पुरुष एक भी अक्षर पदार्थ और पदका ज्ञान देनेवालेको भूलजाता है

वह पापी कहा जाता है फिर धर्मके उपदेश देनेवालेको भूलनेवाला न मालूम क्या कह लावेगा। इसलिये मुनिराज सूर्यमित्रके साथ तेरा वर्ताव अयुक्त है।" उत्तरमें मरुभूतिने कहा-

"इस दुष्टने मुझे जमीनपर सुलाया था। भीख मंगवाई थी और अत्यंत दुःख दिया था। नमस्कार करना तो दूर रहो, मैं इसके साथ बोलना भी नहिं चाहता।" इसरीतिसे दुष्ट मरुभूतिने मुनिराजके दोष ही ग्रहण किये। जैसा कि (चंद्रप्रभचरितमें) कहा है--

गुणानगृह्णन् सुजनो न निर्वृतिं प्रयाति दोषानवदन्न दुर्जनः।
चिरंतनाभ्यासनिबंधनेरिता गुणेषु दोषेषु च जायते मतिः॥

अर्थात्--सज्जन पुरुष जब तक गुण नहिं ग्रहण करता तबतक उसै संतोष नहिं होता और दुर्जन जबतक दोष ग्रहण नहिं करता तबतक उसै सुख नहिं मिलता। यहां-पर सज्जनोंकी प्रवृत्ति जो गुणोंमें होती है और दुर्जनोंकी दोषोंमें होती है उसमें चिरंतन अभ्यास ही कारण है। मुनिराज स्तुति और निंदाको समान समझते थे शत्रु मित्रका उनके भाव ही न था इसलिये वे वहांसे तपोवनको चले गये। अग्निभूति भी यह विचारकर कि "मरुभूति मुझसे छोटा है उसै मेरी आज्ञा और मेरा कहना करना चाहिये सो वह न मेरी आज्ञा मानता है और न मेरा कहना करता है इसलिये अब

उसके साथ रहना क्षणभरभी उचित नहीं । " मुनिराजके साथ साथ तपोवनको चला गया और दिगंबर दीक्षासे दीक्षित होगया ।

जब अग्निभूतिने मुनिमुद्रा धारण करली-तो उसकी स्त्रीको बडा दुःख हुआ वह शीघ्र ही वायुभूतिके पास आई और उससे इसप्रकार कहने लगी-

"अरे दुरात्मा ! तूने मुनिराजको नमस्कार नहि किया इसलिये तेरे भाईने घर वारसे विरक्त हो दिगंबर दीक्षा धारण करली । तू सींग पूछसे रहित दो पैरवाला पशु है । अरे ! जिसने विद्या पढाकर तुझे इस लोकमें वंदनीय पदपर पहुचाया उसकी अवज्ञा करनेसे तुझे न मालूम क्या निंदित गति मिलैगी ? गुरुनिंदासे कभी तुझे कल्याण नहिं प्राप्त हो सकता ।" अग्निभूतिकी पत्नीके ऐसे कठोर वचन सुन वायुभूतिसे न रहा गया और क्रुद्ध हो उसने बडे जोरसे उसमें एक लात जमाई । इस तीव्र अपमानसे अग्निभूतिकी पत्नीको और भी दुःख हुआ । क्रोधकी तीव्रतासे उसने उसी समय यह निदान बांधा कि-जा ! जिस पैरसे तुने मुझे मारा है तिर्यंचनी होकर भी मै पहिले उस पैरको खाकर फिर तेरा समस्त शरीर क्षणभरमें चटकर जाऊंगी ।

वायुभूति कुछ दिन तक जीया पश्चात् किसी रोगसे पीडित हो मरकर गधी सूहरी

कुतिया आदि निंदित योनियोंमें भ्रमणकर चांडाल पुत्री दुर्गंधा हुआ । कदाचित मुनिराज अग्निभूतिकी उसपर दृष्टि पड़गई। दयार्द्र हो उसे संबोधा और मद्य मांस मधुका त्याग और अहिंसा आदि पांच अणुव्रत धारण कराये। जिससे मरकर वह ब्राह्मण पुत्री नागश्री हुआ । मुनिराज अग्निमित्र और सूर्यमित्रने उसे उस पर्यायमें भी संबोधा, पढाया। शास्त्रोंका रहस्य जानकर उसने मुनिराजोंको नमस्कार कर जैनी दीक्षा धारण करली। नानाप्रकारके घोर तप तपे और मृत्युसमयमें चार प्रकारके आहारका त्यागकर स्त्रीलिंगको छेदकर वह सोलहवें स्वर्गमें जाकर अच्युतेंद्र हुई। जैसा कि तपका माहात्म्य वर्णन करते हुये कहा भी है—

यद् दूरं यद् दुराराध्यं यच्च दूरे व्यवस्थितं ।
तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमं ॥

अर्थात्—जो पदार्थ सूक्ष्म हैं कठिनतासे आराधनके योग्य हैं और अत्यंत दूर हैं वे सब तपसे साध्य हैं तपके द्वारा वे सुगमतासे प्राप्त हो जाते हैं क्योंकि तप दुरतिक्रम है कोई भी पदार्थ तपको नहिं उलंघ सकता ।

नागश्रीका जीव अच्युतेंद्र सोलहवें स्वर्गके भोग भोगकर और अपनी आयु स-

मासकर अवंती देशकी उज्जयिनी नगरीमें सुकुमाल नामका श्रेष्ठिपुत्र हुआ और पूर्वोपार्जित पुण्यके माहात्म्यसे वहां भी उसे राज्य आदिकी प्राप्ति हुई। क्योंकि—

राज्यं च संपदो भोगः कुले जन्म सुरूपता।
पांडित्यमायुरारोग्यं धर्मस्यैतत्फलं विदुः॥

अर्थात् राज्य संपत्तियां भोग उत्तमकुलमें जन्म सुंदरता विद्वत्ता आयु और नीरोगता सब धर्मके फल हैं-जो पुरुष धर्मात्मा हैं उन्हें ये सुलभरीतिसे प्राप्त हो जाते हैं।

नैमित्तिकसे इसबातका पता लग चुका था कि सुकुमाल मुनिदर्शनसे ही दिगंबर दीक्षा धारण करलेगा इसलिये सुकुमालकी माकी यह कड़ी आज्ञा थी कि कोई मुनि उसके घरमें आहारकेलिये न आवे तथा सुकुमालको भी वह घरके भीतर ही रखती थी कभी भी बाहर नहिं निकलने देती थी। एक दिन मुनिराज गुणधराचार्य जो सुकुमालके मामा थे, उनके महलके पश्चिमभागके क्रीडा उद्यानमें आकर विराजमान होगये। सुकुमालकी माको जिससमय मुनिराज गुणधरका पता लगा वह शीघ्र ही उनके पास पहुची और बोली—

"मुनिराज! आपको यहां न रहना चाहिये।" परंतु मुनिराजने उसके वचनोंपर कुछ

ध्यान न दिया। वे मौन साधकर वहीं विराजमान रहे आये। ज्योंही प्रातःकाल हुआ मुनिराज बडे उच्चस्वरसे–जिससे समस्त ऊर्ध्वलोकका ज्ञान होता था ऐसी ऊर्ध्व-प्रज्ञप्तिका पाठ पढने लगे। मुनिराजकी वह गंभीर ध्वनि सुकुमालके कानोंमें भी पड़ी। उन्हें शीघ्रही इसबातका जातिस्मरण हो गया कि मैने पूर्वभवमें अच्युतस्वर्गमें ऐसे ही और ये ही सुख भोगे थे। बस उन्हें एकदम भोगोंसे वैराग्य हो गया और अ-पना साक्षात् समस्त वृत्तांत जान वे शीघ्र ही मुनिराजके पास आगये। मुनिराजने भी उन्हें धर्मोपदेशरूपी अमृतसे तृप्तकर इसप्रकार कहा—

"वत्स! अब तुम्हारी आयुमें केवल तीन दिन ही बाकी रहे हैं। अब तुम्हें अपने परलोकके सुधारनेका उपाय करना चाहिये।" बस महात्मा सुकुमाल भी आसन्न भव्य थे। मुनिराजका उपदेश सुनते ही उन्होंने समस्त परिग्रहका त्याग करदिया। मुनिराजको नमस्कार कर दिगंबर दीक्षा धारण करली और नगरके बाह्य उद्यानमें तीन दिनका सन्यास धारणकर ध्यानमें लीन होगये। जिसवनमें मुनिराज सुकुमालने योग धारण किया था उसीवनमें अग्निभूतिकी स्त्री भी अनेक भवोंमें भ्रमण कर शृगाली हुई। ज्योंही उस दुष्टिनीने मुनिराजको देखा पूर्वसंस्कारसे उसे शीघ्र ही जातिस्मरण होगया

'अहा इस दुष्टने वायुभूतिके भवमें मुझे लातसे मारा था' ऐसा स्मरणकर कोपसे कपने लगी और जिस लातसे मारा था उसी लातसे मुनिराजको खाना प्रारंभ कर दिया। मुनिराज सुकुमाल भी संसारके चरित्रसे सच्चे भयभीत थे। मनमें पूर्ण समता धारण कर वे सर्वथा ध्यानमें लीन होगये और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्रके अविनाभावी चिदानंद ध्यानकी सामर्थ्यसे सर्वार्थसिद्धि विमानमें जाकर अहमिंद्र होगये।

अयोध्यापुरीमें एक सिद्धार्थ नामका सेठ रहता था वह बड़ा धर्मात्मा और लक्ष्मीवान था एव उसकी प्राणप्यारी भार्या जयावती थी। सर्वार्थसिद्धि विमानकी आयु समाप्तकर सुकुमालका जीव उन सेठ सेठानीके अनेक कलाओंका भंडार पुत्र हुआ और उसका नाम सुकोशल रक्खा गया। कुमार सुकोशल पुत्रमें जो गुण होने चाहिये उन गुणोंका भंडार था उसकी उत्पत्ति व्यर्थ न थी। क्योंकि—

किं तेन जातु जातेन मातुर्यौवनहारिणा।
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिं॥

अर्थात्—जो पुत्र माता पिताको सुख न कर उनका यौवन नष्ट करनेवाला है उस पुत्रकी कोई आवश्यकता नहीं-उसका न होना ही अच्छा किंतु जिस पुत्रकी-उ-

त्पत्तिसे वंश समुन्नत होवे उसी पुत्रका जन्म सार्थक है। जिससमय सेठि सिद्धार्थने प्रसन्नताके कारण पुत्र सुकोशलका मुँह देखा वह एकदम संसारसे उदासीन होगया और मुनिराज समाधिगुप्तके चरणोंमें जाकर दिगंबर दीक्षा धारण करली। ठीक भी है—

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहां।
भीतः संसारतो भव्यस्तपश्चरति दुश्चरं॥

अर्थात्–काम भोगोंसे विरक्त होकर शरीरमें निस्पृह और संसारसे भयभीत भव्य पुरुष दुश्चर तपका आराधन करते हैं। जिससमय सेठानी जयावतीको यह समाचार मिला कि मेरे पति सिद्धार्थने घरबार छोड दिगंबर दीक्षा धारण करली है वह एकदम क्रोधसे अंधी होगई और वनमें जाकर मुनि सिद्धार्थके सामने खडी होकर इसप्रकार तर्जना करने लगी—

रे दुराचारी पापी! बालक पुत्रको छोडकर तूने यह दिगंबर वृत्ति धारण की है? अरे बालक पुत्रका पालना सर्वथा कष्टसाध्य है। बता! अब उसका पालन कैसे हो? क्या जो पुरुष विवेकशून्य हैं वे दिगंबर वृत्तिको धारण कर भी इष्ट पदार्थ पा सकते

हैं? क्योंकि नग्न तो सांड भी फिरते रहते हैं परंतु उन्हें कोई इष्टसिद्धि नहिं मिलती। उत्तम पुरुष वे ही कहे जाते हैं जो निंदित भी सैकडों कार्यकर बाल पुत्रका पालन करते हैं क्योंकि कहा भी है—

वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या सुतः शिशुः।
अपकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत् ॥

अर्थात्- मनुका सिद्धांत है कि यदि माता पिता वृद्ध हों, स्त्री पतिव्रता हो और पुत्र बालक हो तो सैकडों निंदित कार्य करनेपर भी उनका पालन करना चाहिये-उन्हें छोड न देना चाहिये। बताओ आपने दिगंबर मुद्रा धारणकर क्या इष्ट लाभ किया?" इसप्रकार मुनि सिद्धार्थपर वचनवाणवर्षा कर वह उनके गुरुको भी इसप्रकार उपालंभ देनेलगी—

मुने! स्त्री और पुत्रके इकलोते पालक सेठको दीक्षा देकर आपने विना विचारे कार्य करडाला। इससे आपको पछताना होगा। क्योंकि—

अपरीक्षितं न कर्तव्यं कर्तव्यं सुपरीक्षितं।
पश्चाद्भवति संतापो ब्राह्मणी नकुलं यथा ॥

अर्थात्–कार्य विना विचारे न करना चाहिये। खूब विचारकर करना चाहिये अन्यथा पीछे संताप भोगना पड़ता है जिसप्रकार सर्पको मारकर पुत्रकी रक्षा करनेवाले नोलेको अपने पुत्रका मारनेवाला जान उसै मारकर ब्राह्मणीने संताप भोगा था। इसप्रकार सेठानी जयावतीने क्रोधसे अपनेको न संभालकर दोनों गुरु और शिष्योंको मेरे घर और नगरमें प्रवेश न करना चाहिये ऐसा भी कह डाला। यद्यपि उसके वचन बडे भारी कठोर थे। संभव था मुनियोंका चित्त क्षुब्ध हो जाता। परंतु परम धीर वीर उन मुनिराजोंको जरा भी मनमें क्षोभ न हुआ उनका चित्त शांत ही रहा आया। ठीक भी है—

लोक एष बहुभावभावितः स्वार्जितेन विविधेन कर्मणा।
पश्यतोऽस्य विकृतीर्जडात्मनः क्षोभमेति हृदयं न योगिनः॥

अर्थात्–पूर्वोपार्जित नानाप्रकारके कर्मोंकी कृपासे यह लोक नानाप्रकारकी चेष्टा किया करता है। लोग कभी निंदितभाव तो कभी उत्तम भावोंका अवलंबन करते हैं यद्यपि इससे नानाप्रकारके विकारोंको देखकर मूर्ख मनुष्यके हृदयमें क्षोभ हो जाता है परंतु योगीका मन जरा भी क्षुब्ध नहिं होता। इसतरह परमोपशमकी कृपासे किसीप्रका-

रके क्रोध और संतापको न कर वे दोनो मुनिराज दूसरे देशको चलेगये। मुनि सिद्धार्थने अपने गुरुसे बहुतसा शास्त्राभ्यास किया जिससे उनका अज्ञानरूपी अंधकार सर्वथा विलीन होगया।

बहुत वर्षके बाद मुनिराज सिद्धार्थ गुरुकी आज्ञानुसार पुनः अयोध्या आये। पुरवासी नर नारियोने उनकी भक्तिभावसे पूजा वंदना की। कुमार सुकोशल भी मुनिराजके दर्शनोंको आये। मुनिराजके दर्शन मात्रसे मारे आनंदके उनका सारा शरीर पुलकित होगया। अपने हृदयके आनंदको वे जरा भी गुप्त न रखसके और अपनी मातासे इसप्रकार पूछने लगे—

"मा! इन मुनिराजके दर्शनसे मेरा मन अत्यंत प्रसन्न होता है नेत्रोंको भी परम आनंद प्राप्त होता है यह महात्मा कौन और कहांसे आये हैं?" सुकोशलकी मा मुनिराज सिद्धार्थके दीक्षाकालसही अपने हृदयमें पूरी कलुषता रखती थी एवं इससमय उनके साक्षात् दर्शनसे और भी उसकी क्रोध कालिमाकी मात्रा बढचारीपर थी इसलिये जब उसने कुछ भी जबाव न दिया तब धायने कहा—

"पुत्र! ये मुनि तुम्हारे पिता हैं। इनके प्रतिज्ञा थी कि जिससमय पुत्रका मुंह दे-

खूंगा उसीससमय दिगंबर दीक्षा धारण करलूंगा इसलिये तुम्हारे जन्मते ही ये मुनि होगये थे। बुद्धिमान मनुष्य संसारमें अधिक लिप्त रहना नहिं चाहते।" जिससमय कुमार सुकौशलने अपने पिताका चरित्र सुना वे भी एकदम विषयभोगोंसे विरक्त हो गये। ठीक भी है—

विषयविरतिः संगत्यागः कषायविनिग्रहः
शमदमयमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यमः।
नियमितमनोवृत्तिर्भक्तिर्जिनेषु दयालुता
भवति कृतिनः संसाराब्धेस्तटे निकटे सति॥

अर्थात्—जिस पुण्यवान् पुरुषका संसाररूपी समुद्रका तट निकट है, जो शीघ्रही संसारका नाशकर मोक्ष सुखका अनुभव करनेवाला है उस महानुभावमें विषयोंसे वैराग्य समस्त परिग्रहका त्याग, कषायोंका जीतना, शांति दांति और यम नियम आदिका धारण, तत्त्वोंका अभ्यास, तप आचरणका उद्यम, चित्तके व्यापारका रोकना भगवान जिनेंद्रमें भक्ति और दयालुपना आपसे आप आकर प्रकट होजाते हैं। बस जिस समय कुमार सुकोशलको संसार शरीर भोगोंसे वैराग्य होगया वे माताको बिना ही

पूछे मुनिराज सिद्धार्थके चरण कमलोंमें दिगंबर दीक्षासे दीक्षित होगये । पुत्रको दीक्षित देख सुकोशलकी माको तीव्र दुःख हुआ । जिससे पुत्रशोकके आर्तध्यानसे शीघ्रही उसके प्राण पखेरू उडगये और मगध देशके भयंकर वनके मंगलनामक पर्वत पर वह व्याघ्री हुई। सो यह बात सर्वथा सत्य है कि जो जीव पुत्र आदि अभीष्ट पदार्थके मरजाने वा नाश हो जानेपर शोक करता है वह अवश्य दुर्गतिका दुःख भोगता है क्योंकि कहा भी है—

> मृत्योर्गोचरमागते निजजने मोहेन यः शोककृ-
> न्नो गंधोऽपि गुणस्य तस्य बहवो दोषा पुनर्निश्चितं ।
> दुःखं वर्धत एव नश्यति चतुर्वर्गो मतेर्विभ्रमः
> पापं रुक् च मृतिश्च दुर्गतिरथ स्याद्दीर्घसंसारिता ॥

अर्थात्–जो जीव अपने इष्टजनके मरजानेसे शोक करता है उसे कोई गुण प्राप्त नहिं होता उल्टा वह दोषोंका स्थान बन जाता है, अनेक प्रकारके दुःखोंका सामना करना पड़ता है, धर्म अर्थ काम मोक्ष चारो पुरुषार्थ उसके नष्ट होजाते हैं, बुद्धि भ्रष्ट होजाती है और पाप रोग मरण दुर्गति संसारभ्रमण आदिकी प्राप्ति होती है ।

कुछ दिन बाद सिद्धार्थ और सुकोशल दोनों मुनिराज भी उसी वनके मंगल पर्वतपर जहां कि वह व्याघ्री रहती थी आये और चार मासका अनशन धारण कर वहीं विराजमान होगये। जिससमय उनके चार मास बीत गये तो उन्होंने अपना योग संकोच लिया और पारणाके लिये जाते थे कि बीचमें ही उन्हें सामने वह व्याघ्री दीख गई। इधर तो यह विचार कर कि यह पापिनी अवश्य कुछ अनिष्ट करेगी वे दोनों सन्यास धारण कर शुक्लध्यानमें मग्न हुये और उधर पूर्वजन्मके संस्कारसे क्रोधकी भयंकर ज्वालासे विकराल वह बाघिनी देखते २ दोनों मुनिराजोंको भक्षण करगई। दोनो मुनिराज शुक्लध्यानमें लीन थे इसलिये उसके माहात्म्यसे-चिदानंद चैतन्यस्वरूप अपनी आत्माकी ओर अभिमुख होनेके कारण दोनोंके दोनों सर्वार्थसिद्धिमें जाकर अहमिंद्र होगये ॥ ४९ ॥ अब मनुष्यकृत उपसर्ग किन माहात्माओंने सहा था सो बताते हैं—

गुरुदत्तपंडवेहिं य गयवरकुमरेहिं तह य अवरेहिं।
माणुसकइ उवसग्गो सहिओ हु महाणुभावेहिं ॥ ५० ॥

गुरुदत्तपाण्डवैश्च गजवरकुमारेण तथा चापरैः।

मनुष्यकृत उपसर्गः सोढो हि महानुभावैः ॥ ५० ॥

अर्थ—राजा गुरुदत्त, युधिष्ठिर आदि पांच पांडव, यदुवंशी गजकुमार तथा अन्य महानुभावोंने भी मनुष्यकृत उपसर्ग सहन किया था।

राजा गुरुदत्त हस्तिनापुरका स्वामी था जो न्यायपूर्वक प्रजासे कर लेकर धनसंचय करता था। एक दिन प्रजासे यह सुनकर कि एक व्याघ्र प्रतिदिन नगरमें आता है और जीवोंका विध्वंसकर बड़ा दुःख देता है राजा गुरुदत्तको बड़ा क्रोध आया। वह शीघ्रही सेना लेकर द्रोणीमान पर्वतपर जहां कि वह व्याघ्र रहता था पहुंचा और उस जीवोंके विध्वंसक व्याघ्रको चारो ओरसे घेर लिया। जब वाघने यह दृश्य देखा तो वह मारे भयके गुफामें घुस गया राजाको और भी उसपर क्रोध आया उसने शीघ्रही गुफाके भीतर लकडी भरवादीं और आग लगादी। जिससे अग्निकी प्रचंड ज्वालासे वाघ गुफाके भीतर ही भीतर जलकर मरगया और अकामनिर्जराके बलसे चंद्रपुरी नगरीमें कपिल नामका ब्राह्मण हुआ।

इसके बाद एक दिन राजाको भी संसारसे वैराग्य होगया उसने पुत्रको राज्य दे मुनिव्रत धारण कर लिये। विहार करता करता किसीसमय वह चंद्रपुरीमें आ पहुंचा और

कपिल ब्राह्मणके खेतके समीप कायोत्सर्गमुद्रा धारण कर विराजमान हो गया। कपिल ब्राह्मण अपनी स्त्रीको यह आज्ञा देकर कि तू भोजन लेकर जल्दी आना खेतपर चल दिया। वह खेत उसदिन जोतनेके अयोग्य था इसलिये कपिल दूसरे खेतपर चला गया। कपिल जिस खेतपर आनेको अपनी स्त्रीसे कह आया था वह उसीपर आई और वहां अपने पतिको न पा पासमें विराजमान मुनिसे उसने पूछा—

"मुने! इस खेतपरसे ब्राह्मण कहां गया?" मुनिराजको भला ऐसी वार्तोंके उत्तर प्रत्युत्तरसे क्या प्रयोजन था। उन्होंने ब्राह्मणीके प्रश्नका कुछ भी उत्तर न देकर मौन धारण कर लिया। जब ब्राह्मणीने देखा कि मुनिराज कुछ भी जबाब नहि देते तो वह अपने घर लौट आई। जब दिन बहुत चढ गया और ब्राह्मणी भोजन लेकर खेतपर न पहुची तो कपिलको बडा क्रोध आया वह जोतना बंद कर शीघ्र ही घर आया और ताडनापूर्वक अपनी स्त्रीसे इसप्रकार कहने लगा—

"री रांड! यदि तुझे मेरा पता नहिं मालूम हुआ तो तू मुनिको पूछकर क्यों न मेरे पास आई?" उत्तरमें ब्राह्मणीने कहा—

"मैने तो मुनिको पूछा था परंतु उन्होंने कुछ भी जबाब नहिं दिया था इसलिये

मैं आपके पास न पहुंच पाई।" बस दुष्ट ब्राह्मण स्त्रीसे तो कुछ न कह सका विना कारण मुनिराज पर कुपित हो वह शीघ्र ही उनके पास पहुंचा और सेमरकी रुईसे उनका सारा शरीर वेष्टित कर आग लगा शांत हुआ। मुनिराज गुरुदत्त परम उपशमी थे उन्होंने अग्निकी वेदनाकी ओर जरा भी विचार न कर शुक्लध्यानमें उपयोग लगाया जिससे उन्हें शीघ्र ही केवलज्ञान प्राप्त हो गया-इसीसमय केवली मुनिराज गुरुदत्तकी पूजाके लिये सुर असुर शीघ्र ही वहां आगये। जब ब्राह्मणने सुर असुरोंको मुनिराजकी पूजा करते देखा तो उसे बडा आश्चर्य हुआ। उसने मनमें अपने कृत्यकी बार बार निंदाकी और मुनिराजके पैरोंमें गिरकर कहा—

'हे दयासागर स्वामी! मेरा पाप तीव्र है। प्रार्थना है इस घोर पापसे मैं नारकी न होऊं ऐसा उपायकर रक्षा कीजिये।' मुनि परम दयालु थे उन्होंने उसे आसन्न भव्य जान दिगंबर दीक्षा देदी। इसप्रकार यह गुरुदत्तकी कथा हुई। अब पांडवोंकी कथा कहते हैं—

युधिष्ठिर भीम अर्जुन नकुल और सहदेव ये पांचो पांडव हस्तिनापुरके स्वामी राजा पांडुके पुत्र थे। पूर्वोपार्जित शुभ पुण्यके उदयसे ये दुर्जय पराक्रमी दुर्योधन आदिको एवं

अन्य भी शत्रुओंको जीत कर अपनी कीर्ति ध्वजाको फेराते हुये आनंद पूर्वक
मथुराका राज्य करते थे। कदाचित् भगवान नेमिनाथका निर्वाण सुन इन्हें एकदम
संसारशरीरभोगोंसे विरक्ति हो गई। अपने पुत्रोंको राज्य दे तत्काल दिगंबर
दीक्षा धारण करली और घोर तप तपते हुये शत्रुंजय पर्वतकी शिखरपर आरूढ हो प-
र्वतमें उकीलेके समान प्रतिमायोगसे विराजमान होगये। जिससमय दुर्योधनके वंशके
राजपुत्रोंको पांडव 'शत्रुंजय पर्वतपर विराजमान हैं' यह पता लगा वे पूर्व वैरका स्मरण-
कर शीघ्र ही वहां आये और उन्हें बुरी तरह सताने लगे। उन दुष्टोंने लोहके मुकुट
कुंडल हार कर्णभूषण और कडे बनाकर जाज्वल्यमान अग्निमें तपाकर पांडवोंके भुजा
आदि अवयवोंमें पहिनाये, अग्निसे जाज्वल्यमान लोहके सिंहासनोंपर जबरन उठा उठा-
कर विठाया। युधिष्ठिर भीम और अर्जुन ये तीनों मुनिराज तो यह सब हमारे किये
कर्मोंका ही फल है इस बातको जानकर कर्मोंके फलसे भिन्न किंतु ज्ञानोपयोग दर्श-
नोपयोगसे अभिन्नस्वरूप आत्माकी भावनाकर शुक्लध्यानके बलसे घातिया कर्मोंको
जडमूलसे उड़ाकर केवलज्ञान पाकर एवं उसीसमय शेष अघातिया कर्मोंका भी ना-
शकर अंतकृत् केवली हो अचिंत्य अविनाशी अव्याबाधमय मोक्ष सुखका अनुभव करने

लगे परंतु नकुल और सहदेवके चित्तमें कुछ अशांतिका प्रसार होगया। सहसा उनके मनमें ये विकल्प उठ गये कि-यदि इससमय महाराज युधिष्ठिर आज्ञा दें तो इन दुष्टोंको अभी हम बाहुबलसे पछाड़ मारें किंतु उसीसमय अपनेको मुनि जान उन्होंने विकल्पोंको सर्वथा छोड़ दिया-मुनिमुद्राके स्मरण होते ही वे क्रोधादिमय अपनी आत्माकी निंदा करने लगे और परम धर्म्यध्यानके माहात्म्यसे सर्वार्थसिद्धिमें जाकर अहमिंद्र होगये। गजकुमारकी कथा-

किसीसमय द्वारिकापुरीमें कृष्णके पिता राजा वसुदेव निवास करते थे उनका समस्त राजकुमारोंमें पराक्रमी पुत्र गजकुमार था एक दिन राजा कृष्णने यह घोपणा जारी की कि "जो महानुभाव पोदनपुरके अधिपति राजा अपराजितको संग्राममें जीतकर और बांधकर यहां ले आवेगा उसे मनोवांछित पदार्थ दिया जायगा।" कुमार गजने जब यह घोपणा सुनी तो वह शीघ्र ही अपराजितसे युद्ध करने चलदिया। संग्राममें जीतकर उसे बांधलाया और राजा कृष्णके चरणकमलोंमें लाकर पटक दिया। कुछ दिनबाद गजकुमारको काम सेवनका बुरा व्यसन पडगया यद्यपि उसके बहुतसी स्त्रियां थी तथापि वह द्वारिकापुरीकी स्त्रियोंका सेवन करता हुआ पांसुल सेठकी स्त्रीमें आसक्त हो गया। सो ठीक भी है—

स्वाधीनेऽपि कलत्रे नीचः परदारलंपटो भवति ।
परिपूर्णेऽपि तडागे काकः कुम्भोदकं पिबति ॥

अर्थात्—जिसप्रकार निर्मल जलसे लबालब भरे हुये तालाबके मौजूद रहनेपर भी काक घड़ेमें चोंच डालकर पानी पीता है उसीप्रकार अपनी अनेक स्त्रियोंके रहनेपर भी नीच मनुष्य पराई स्त्रियोंमें ही लालसा करता रहता है।

कदाचित् वह भगवान नेमिनाथकी वंदनार्थ उनके समवसरणमें गया। भगवान उससमय परस्त्रियोंके त्यागका उपदेश दे रहे थे ज्योंही कुमार गजने भगवानके मुखसे

चिंताव्याकुलताभयारतिमतिभ्रंशातिदाहभ्रम-
क्षुत्तृष्णाहतिरोगदुःखमरणान्येतान्यहो आसतां।
यान्यत्रैव परांगनाहितमतेस्तद्भूरि दुःखं चिरं
श्वभ्रे भावि यदग्निदीपितवपुर्लोहांगनालिंगनात् ॥

"अर्थात्—जो मनुष्य परस्त्रीलंपट हैं उन्हें चिंता व्याकुलपना भय द्वेष बुद्धिका नाश अत्यंतदाह भ्रांति क्षुधा प्यास पीड़ा रोग दुःख और मरणका क्लेश भोगना पड़ता है यह तो दूर रहो और भी चिरकालतक अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं और नरकमें ग-

रम लोहेकी पुतलियोंसे आलिंगन करना पड़ना है।" यह उपदेश सुन उसे एक दम संसार शरीर भोगोंसे विरक्ति होगई। भगवान जिनेंद्रके चरणोंमें दिगंबर दीक्षा धारण करली और गुरुकी सेवासे शास्त्रोंका अभ्यास किया। कुछ दिन बाद मुनि गजकुमार तो गिरनार पर्वतकी विकट अटवीमें संन्यासमरण स्वीकारकर विराजमान होगये और उधर उस सेठको जब यह स्मरण आया कि इस गजकुमारने मेरी स्त्रीके साथ व्यभिचार किया था वह एकदम क्रोधसे उबल उठा वह शीघ्र ही मुनिराज गजकुमारके पास आया और लोहकी कीलोंसे कीलितकर उन्हें पीड़ा दे दूर भगगया। मुनि गजकुमार परम ध्यानी थे। धर्मध्यानमें लीन होकर उन्होंने समस्त दुःखको सह लिया और शुभ परिणामोंकी कृपासे स्वर्गमें जाकर देव होगये ॥ ५० ॥ जिन महानुभावोंने देवकृत उपसर्ग सहा अब उनके नाम बतलाते हैं—

अमरकओ उवसग्गो सिरिदत्तसुवण्णभद्दआईहिं ।
समभावणाए सहिओ अप्पाणं झायमाणेहिं ॥ ५१ ॥

अमरकृत उपसर्ग श्रीदत्तसुवर्णभद्रादिभि.

समभावनया सोऽहं आत्मानं ध्यायाहि ॥ ५१ ॥

अर्थ—आत्माका भलेप्रकार ध्यान करनेवाले श्रीदत्त सुवर्णभद्र आदि महामुनियोंने शत्रु मित्र काच कंचनमें समान भावना रखकर देवकृत घोर उपसर्ग सहा था।

किसीसमय इलावर्धन नगरके प्रतिपालक राजा श्रीदत्त थे। उनकी स्त्रीका नाम अंशुमती था और ये दोनों दंपति प्रतिदिन जूआ खेला करते थे। एक दिन राजा श्रीदत्त रानी अंशुमतीसे जूआमें हार गये। रानी अंशुमतीके पास एक शुक था जिससमय राजा हार गये उससमय उस शुकने जमीनपर यादगारीके लिये यह कह कर कि 'एक वार राजा हारगये' एक रेखा खींच दी। तोतेके उस असभ्य वर्तावपर राजाको बडा क्रोध आया। क्रोधवश दीन भी उस तोतेको दुष्ट श्रीदत्तने गला घोंट कर शीघ्र ही मार डाला। ध्यान विशेषके माहात्म्यसे उधर तोताका जीव तो जाकर व्यंतर जातिका देव हो गया और इधर-राजा श्रीदत्त एकदिन अपने सुंदर महलकी छतपर बैठे थे अचानक ही मेघके महलको नष्ट हुआ देख उन्हें वैराग्य हो गया राजभार पुत्रको सौंपकर दिगंबर दीक्षासे दीक्षित हो गये और अनेक प्रकारके शास्त्रोंका अभ्यास और घोर तप आचरण करते हुये काल व्यतीत करने लगे।

एक दिन मुनिराज श्रीदत्त शीत ऋतुमें कायोत्सर्ग मुद्रा धारण कर नगरके बाह्य उद्यानमें विराजमान थे । पूर्वभवके तोतेके जीव व्यंतरको अपने पूर्वभवका स्मरण होआया। क्रोधसे भ्रष्टमति हो वह शीघ्र ही मुनिराज श्रीदत्तका पता लगा उनके पास आया और शीतल जलकी वर्षा करने लगा जिससे मुनिराजको परम कष्ट हुआ परंतु वे महा धीर वीर थे। अपने सहज शुक्ल आत्मध्यानसे विचलित न होकर उन्होंने समस्त परीषहोंको सहलिया और केवलज्ञान प्राप्तकर अचिंत्य अव्याबाध निर्वाण सुखका अनुभव करने लगे ॥ ५१ ॥ हे आत्मन् ! जैसा इन महामुनियोंने उपसर्ग सहा था वैसा तू भी सह अब इसप्रकार आत्माको परीषहोंके सहन करनेकेलिये उत्साहित करते हैं—

एएहिं अवरेहिं य जह सहिया थिरमणेहिं उवसग्गा ।
विसहसु तुमंपि मुणिवर अप्पसहावे मणं काऊ ॥ ५२ ॥

एतैरपरैश्च यथा सोढा स्थिरमनोभिरुपसर्गाः ।
विषहस्व त्वमपि मुनिवर आत्मस्वभावे मन कृत्वा ॥ ५२ ॥

अर्थ-हे मुनि ! सुकुमाल आदि महामुनि एवं अन्य भी महामुनियोंने निश्चलरूपसे उपसर्गोंको सहा है इसलिये मनको आत्मस्वरूपके चिंतवनमें लगाकर तुझे भी उपसर्ग सहलेने चाहिये । भावार्थ-अशुभकर्मके उदयसे मुनियोंको उपसर्गोंका सामना करना पड़ता है । जो मुनि कर्मोंका फल भलेप्रकार विचार कर उपसर्ग सहलेते हैं उन्हें निराकुलतामय सुखकी प्राप्ति होती है । सुकुमाल आदि महामुनियोंको भी अशुभकर्मके उदयसे घोर उपसर्गोंका सामना करना पड़ा था और उपसर्गोंके भयसे ध्यानसे विचलित न हो उन्होंने परम अतींद्रिय सुखका रसास्वादन किया है । ग्रंथकार यहां मुनियोंको उपदेश देते हैं कि हे मुनियो ! आत्मस्वरूपमें लीन हो जिसप्रकार सुकुमाल आदि महामुनियोंने घोर उपसर्ग सहा और अतींद्रिय सुखका रसास्वादन किया उसीप्रकार तुमभी आत्मस्वरूपमें लीन होकर उपसर्गोंको सह डालो और अतींद्रिय सुखका लाभ करो ॥ ५२ ॥

इंदियवाहेहिं हया सरपीडापीडियंगचलचित्ता ।
कत्थवि ण कुणंति रई विसयवणं जंति जणहरिणा ॥ ५३ ॥

इंद्रियव्याधैर्हताः शरपीडापीडितांगचलचित्ता ।

कुत्रापि न कुर्वंति रतिं विषयवन याति जनहरिणा ॥ ५३ ॥

अर्थ—ये जीवरूपी हरिण इंद्रियरूपी व्याधोंसे पीडित और उनके तीक्ष्ण बाणोंकी तीव्रवेदनासे चंचल हो किसी पदार्थमें प्रेम नहिं करते सीधे विषयरूपी वनकी ओर दौड़ते हैं। भावार्थ—जिसप्रकार व्याधोंके तीव्र बाणोंसे पीडित और उनकी वेदना न सहार सकनेके कारण महाभयभीत हरिण अन्य किसी भी पदार्थमें प्रेम न कर वनको दौड़ते हैं उसीप्रकार इंद्रियां व्याध हैं, कामदेव आदि उनके तीव्र बाण हैं, इंद्रियोंके विषय वन हैं और मनुष्य हरिण हैं इसलिये जिससमय ये जीवरूपी हरिण इंद्रियरूपी व्याधोंके काम उत्तमोत्तम शब्द श्रवण आदि तीव्र बाणोंसे विद्ध होते हैं और भयभीत हो चंचल बन जाते हैं उससमय विना विचारे विषयरूपी वनकी ओर दौड निकलते हैं। उत्तमोत्तम माला स्त्री आदि पदार्थोंके भोगमें जो कि परिणाममें महादुःख देनेवाले हैं मग्न हो जाते हैं। जिससमय उनका वियोग हो जाता है उससमय इसलोकमें महादुःख पाते हैं और परलोकमें नरक तिर्यंच आदि गतियोंमें जाकर भी तीव्र दुःखोंका सामना करते हैं इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि दुःखोंसे

भयभीत हो इंद्रियोंको वशकर वे परमात्माके ध्यानमें लीन हों ॥ ५३ ॥ जो मुनि सन्यस्त हैं यदि उनके चित्तमें विषयोंकी अभिलाषा हो जाय तो उन्हें क्या फल होता है यह बात बतलाते हैं—

सव्वं चायं क.ऊ विसए अहिलसासि गहियसण्णासे ।
जइ तो सव्वं अहलं दंसण णाणं तवं कुणसि ॥ ५४ ॥

सर्वं त्याग कृत्वा विषयानभिलषासि गृहीतसन्यासे ।
यदि तदा सर्वमफल दर्शन ज्ञान तप. करोषि ॥ ५४ ॥

अर्थ- समस्त परिग्रहोंका त्यागकर और सन्यास धारणकर यदि विषयोंमें अभिलाषा हो जाती है तो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्तपका आराधन विफल हो जाता है । भावार्थ- सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान आदिका फल संवर निर्जरा और मोक्षकी प्राप्ति है। मुनिगण संसारको विनाशीक दुःखदायी समझ और मोक्ष आदि फलको हितकारी एवं अविनाशीक समझकर बाह्य अभ्यंतर दोनोंप्रकारके परिग्रहका त्याग करदेते हैं और मुनिवृत्ति धारणकर घोर परीषह सहन करनेकी मनमें ठान लेते हैं। यदि उससमय

किसी कारणवश साक्षात् विषयभोग न कर उनको भोगनेकी लालसा ही मुनियोंके चित्तमें हो जाय तो सम्यग्दर्शन आदिके मोक्ष आदि फलोंका लाभ नहिं होता उल्टा उस निंदित अभिलाषासे अनतकालपर्यंत संसारमें घूमना पड़ता है और घोरसे घोर दुःखोंका सामना करना पड़ता है। जैसा कि कहा है—

पठतु सकलशास्त्रं सेवतां सूरिसंघान् दृढयतु च तपश्चाभ्यस्यतु स्फीतयोगं।
चरतु विनयवृत्तिं बुध्यतां विश्वतत्त्वं यदि विषयविलासः सर्वमेतन्न किंचित्॥

अर्थात् समस्त शास्त्रोंको भी पढ़जाओ, मुनियोंके संघकी भी पूर्ण सेवा करो, दृढरूपसे तपका भी आराधन करो, प्रचंड ध्यानका भी अभ्यास करो, विनयी भी बनो और समस्त तत्त्वोंके ज्ञाता भी बन जाओ यदि चित्तमें विषयोंकी अभिलाषा है तो शास्त्रज्ञान आदिका कुछ भी फल नहीं होता।

अन्यत्र अभिलाषाकी तो क्या बात? यदि 'मुझे मोक्ष मिलजाय' यह मोक्षमें भी अभिलाषा होजाय तो वह तप आदि कार्यकारी नहीं। क्योंकि—

स्पृहा मोक्षेपि मोहोत्था तन्निषेधाय जायते।
अन्यस्मिन् तत्कथं शांताः स्पृहयंति मनीषिणः॥

अर्थात्–मोहनीय कर्मकी प्रबलतासे यदि मोक्षमें भी इसप्रकारकी इच्छा हो जाय कि 'हमें मोक्षकी प्राप्ति होजाय' तब मोक्षकी प्राप्ति नहिं होती अर्थात् जब इच्छा मोक्षकी प्राप्तिमें भी बाधक होजाती है तब अन्य पदार्थोंमें की हुई वह कैसे शुभकल्याणको प्रदान करसकती है? इसलिये जो पुरुष शांत और विद्वान हैं वे कभी भी किसीबातकी अभिलाषा नहिं करते। किंतु शुद्ध परमात्माका ही आराधन करते रहते हैं ॥५४॥ जब मुनि समस्त दोषोंको दूर करना चाहता है तब वह उन्हें दूर क्यों नहि कर सकता? यह बतलाते हैं—

इंदियविसयवियारा जाम ण तुट्टंति मणगया खवओ।
ताव ण सक्कइ काउं परिहारो णिहिलदोसाणं ॥ ५५ ॥

इंद्रियविषयविकारा यावन्न त्रुट्यंति मनोगताः क्षपक।
तावन्न शक्नोति कर्तुं परिहारं निखिलदोषाणा ॥ ५५ ॥

अर्थ–जबतक मुनि मनमें उठे हुये इंद्रिय विकारोंको दूर नहिं करता तबतक वह समस्त दोषोंको भी दूर नहिं कर सकता। भावार्थ–इंद्रिय विषयोंके विकारका अभाव

कारण है और समस्त दोषोंका नाश कार्य है। जबतक इंद्रियोंके विषयोंका त्याग न होगा तबतक कभी समस्त दोषोंका नाश न हो सकेगा। इंद्रियोंके विषय स्पर्श रस गंध आदि ऊपर बतला दिये गये हैं। जबतक मनमें इसबातकी अभिलाषा बनी रहती है कि अमुक स्पर्श वा अमुक उत्तम गंधकी मुझै प्राप्ति हो जावे तबतक कभी परिणाम निर्मल नहिं रहसकते सदा कर्मोंका आस्रव हुआ करता है जिससे अनेक दोषोंका सामना करना पड़ता है। किंतु जिससमय स्पर्श आदिकी लालसा-विकार नष्ट हो जाते हैं। मन शांत हो जाता है उससमय किसीप्रकारकी समलता नहिं होती। समलता न होनेसे कर्मबंध और उनके कार्य दोषोंका भी सामना नहिं करना पडता। इसलिये जो मुनि यह चाहते हैं कि समस्त दोषोंका नाश होजाय उन्हें चाहिये कि वे मनमें किसीप्रकारके इंद्रियोंके विकारोंको न फटकने दें ॥ ५५ ॥ इंद्रियोंसे पीडित मनुष्य किनका शरण लेते हैं? यह बतलाते हैं—

इंदियमल्लेहिं जिया अमरासुरणरवराण संघाया।
सरणं विसयाण गया तत्थवि मण्णंति सुक्खाइं ॥ ५६ ॥

इंद्रियमल्लैर्जिता अमरासुरनरवराणां संघाताः ।

शरण विषयाणां गतास्तत्रापि मन्यते सौख्यानि ॥ ५६ ॥

अर्थ—देवेंद्र असुरेंद्र और नरेंद्र जिससमय इंद्रियरूपी मल्लोंसे हार जाते हैं इंद्रियोंके वश हो जाते हैं उससमय वे विषयोंका शरण लेते हैं और उनहीमें सुख मानते हैं। भावार्थ- वास्तविक सुख अव्याबाधमय है और वह इंद्रियोंका सर्वथा विजयकर मोक्षस्थानके शरण लेनेपर ही प्राप्त होता है परंतु जिससमय असुरेंद्र सुरेंद्र नरेंद्र आदि पुरुष अपनी आत्माकी शक्तिका जरा भी विचार न कर इंद्रियोंके आधीन हो जाते हैं उससमय वे विषयवनको शरण समझ लेते हैं और विषयजन्य सुखको ही सुख मान निकलते हैं परंतु यह उनकी बडीभारी भूल है क्योंकि इंद्रियोंके विषय महादुःखदायी हैं। पांचो इंद्रियोंकी तो क्या बात ? एक एक इंद्रियका विषय सेवन ही जीवोंका प्राणघातक हो जाता है। जैसा कि कहा है—

मीना मृत्युं प्रयाता रसनवशमिता दंतिनः स्पर्शरुद्धा
नद्धास्ते वारिमध्ये ज्वलनमुपगताः पत्रिणश्चाक्षिदोषात्।
भृंगा गंधोद्धनाशाः प्रलयमुपगता गीतलोलाः कुरंगाः
कालव्यालेन दष्टास्तदपि तनुधियामिंद्रियार्थेषु रागः ॥

अर्थात्–जिह्वा इंद्रियके वश होकर मछलियां जान गमा देती हैं। स्पर्शन इंद्रियके आधीन हो हाथी फंदमें फस जाता है। चक्षु इंद्रियसे पतंगा दीपकमें जलकर नष्ट हो जाता है। गंधसे भौंरा प्राण गमा बैठता है और कर्ण इंद्रियकी आधीनता स्वीकार कर गानेके सुननेमें मस्त हो हरिण अपनी जिंदगीसे हाथ धो बैठता है तब भी न मालूम इन मूढ़ जीवोंका क्यों इंद्रियोंके विषयोंमें तीव्रराग होता है? क्यों इंद्रियोंके विषयोंमें सुख मानते हैं? और भी कहा है—

न तदरिरिभराजः केशरी केतुरुग्रो नरपतिरतिरुष्ट कालकूटोतिरौद्रः।
अतिकुपितकृतांतः पन्नगेंद्रोपि रुष्ट· यदिह विषयशत्रुर्दु खमुग्रं करोति।

अर्थात्- यद्यपि हस्ती सिंह राहु कुपितराजा विष यमराज और क्रुद्ध सर्पभी दुःख-दायी हैं परंतु जितना उग्र दुःख विषयशत्रु देता है उतना न मत्त हाथी देसकता है न सिंह राहु कुपितराजा विष यमराज और सर्प ही प्रदान कर सकते हैं इसलिये यदि क्षपक महानुभाव इंद्रियोंके जालमें फस भी जाय तो उसे चाहिये कि इंद्रिय विषयोंको सुखकारी न समझकर उनका शरण न ले किंतु परम हितकारी परमब्रह्म परमात्माका शरण ले और विषयोंमें सदा ऐसा विचार करता रहै—

"अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्।
व्रजंतः स्वातंत्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनंतं विदधति॥

अर्थात्–चिरकाल रहकर भी जब विषय नष्ट ही होनेवाले हैं जरा भी फिर नहिं ठहर सकते तब स्वयं उन्हें छोडकर उनसे वियोग कर लेना क्या हानि कारक है?

अर्थात् जिससमय वे अपनेसे नष्ट होंगे तब भी वियोग होगा और यदि अपनेसे छोड दिये जायगे तब भी वियोग होगा तब फिर यह जीव स्वयं इन्हें क्यों छोडना नहिं चाहता क्योंकि यह नियम है कि जिससमय ये विषय चिरकाल ठहरकर जब अपने आप जाते-नष्ट होते, हैं उससमय चित्तको महा संताप देते हैं और जिससमय अपनेसे छोड दिये जाते हैं उससमय अव्याबाधमय अचिंत्य सुख प्रदान करते हैं ॥५६॥

'इंद्रिय सुख सुख नहीं' यह बात बतलाते हैं–

इंदियगयं ण सुक्खं परदव्वसमागमे हवे जह्मा।
तह्मा इंदियविरई सुणाणिणो होइ कायव्वा ॥ ५७ ॥

इंद्रियगतं न सौख्यं परद्रव्यसमागमे भवेद्यसात् ।
तस्मादिंद्रियविरतिः सुज्ञानिनो भवति कर्तव्या ॥ ५७ ॥

अर्थ-इंद्रियजन्य सुख सुख नहीं क्योंकि वह परपदार्थोंके संबंधसे उत्पन्न होता
है इसलिये जो पुरुष ज्ञानवान हैं उन्हें इंद्रियविषयोंसे सर्वथा विमुख रहना चाहिये।
भावार्थ-अन्न पान वस्त्र तांबूल चदन स्त्री आदि परपदार्थ हैं और इंद्रियजन्य सुख
इन्हीं पदार्थोंके संबंधसे उत्पन्न होता है अर्थात् जिससमय अन्न पान आदि इष्ट पदा-
र्थोंकी प्राप्ति हो जाती है उससमय सुख मालूम पडने लगता हैं परंतु यह सुख विना-
शीक है और परिणाममें दुःखदायी है इसलिये दुःख ही स्वरूप है जैसा कि कहा भी है-

सुखमायति दु खमक्षजं भ नते मंदमतिर्न बुद्धिमान् ।
मधुलिप्तमुखाममंदधीरसिधारा खलु को लिलिक्षति ॥

अर्थात्-जिसप्रकार शहदसे लिपटी हुई तलवारकी धारको कोई भी बुद्धिमान
चाटनेकी इच्छा नहिं करता क्योंकि वह समझता है कि पहिले ही पहिले अवश्य
मिठास मिलेगा परंतु यदि जीभ कट गई तो घोर वेदना भोगनी पडेगी उसीप्रकार
बुद्धिमान पुरुष इंद्रियजन्य सुखको भी अच्छा नहिं मानता क्योंकि वह समझता

है कि यद्यपि विषय प्रारंभमें मीठे हैं परंतु अंतमें महादु:खदायी हैं परंतु जो मूढ-बुद्धि हैं वे तो जान बूझकर भी विषयोंका सेवन करते रहते हैं। इसलिये यह बात निश्चित है कि इंद्रियजन्य सुख कभी सुख नहिं कहा जा सकता किंतु वास्तविक सुख अव्याबाधमय है और परपदार्थोंसे उत्पन्न न होकर केवल आत्मिक है-आत्मासे जायमान है जो पुरुष विद्वान हैं-स्व परके स्वरूपका पूर्ण ज्ञान रखते हैं और आत्मिक सुखकी प्राप्तिके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे इंद्रियविषयोंसे सर्वथा विमुखता धारण करें- उनकी ओर जरा भी लालायित न हों ॥ ५७ ॥

इंदियसेणा पसरइ मणणरवइपेरिया ण संदेहो।
तह्मा मणसंजमणं खवएण य हवदि कायव्वं ॥ ५८ ॥

इंद्रियसेना प्रसरति मनोनरपतिप्रेरिता न संदेह।
तस्मान्मन संयमन क्षपकेण च भवति कर्तव्य ॥ ५८ ॥

अर्थ-जिससमय मनरूपी राजा इंद्रियसेनाको प्रेरणा करता है उससमय वह अपने २ विषयोंमें प्रवृत्त होती है इसलिये क्षपकको चाहिये कि वह अपने मनको पूर्ण

रूपसे वशमें रक्खे । भावार्थ-जिसप्रकार सेनाका नायक राजा होता है और वह जिस ओर जानेकी सेनाको आज्ञा देता है उसी ओर सेना प्रवृत्त हो जाती है उसीप्रकार इंद्रियसेनाका स्वामी राजा मन है वह जिस ओर जानेकी इन्द्रियोंको आज्ञा देता है उसी ओर इंद्रियां प्रवृत्त हो जाती हैं । इसमें कोई संदेह नहीं और यह बात सभीके अनुभवमें आ सकती है कि स्पर्शन आदि इंद्रियां जो स्पर्श आदि विषयोंकी ओर रोकनेपर भी झुकजाती हैं वह सब मनकी ही कृपा है-उसीकी प्रेरणासे वे अपने अपने विषयोंमें प्रवृत्ति करतीं हैं इसलिये यदि क्षपक यह चाहता है कि मैं इंद्रिय विषयोंका सर्वथा त्यागकर आत्मिक सुख प्राप्त करूं तो उसे चाहिये कि वह पूर्णरूपसे मनको वश करै-जरा भी उसै विषय भोगनेकेलिये लालायित न होने दे ॥ ५८ ॥

मणणरवइ सुहुभुंजइ अमरासुरखगणरिंदसंजुत्तं ।
णिमिसेणेक्कण जयं तस्सात्थि ण पडिभडो कोइ ॥ ५९ ॥

मनोनरपतिः सभुक्ते अमरासुरनरखगेंद्रसयुक्त ।
निमिषेणैकेन जगत्तस्यास्ति न प्रतिभट कोऽपि ॥ ५९ ॥

अर्थ-यह मनरूपी राजा, अमर असुर विद्याधर और नरेंद्रोंसे संयुक्त तीनो लोक-

जाती है इंद्रियके नष्ट होजानेपर समस्त कर्मोंका अभाव हो जाता है। जहांपर कर्मोंका अभाव है वही मोक्ष है और मोक्षमें अनुपम सुख प्राप्त होता है जो शाश्वत-सदा रहनेवाला है और इंद्रियोंके विषयोंसे उत्पन्न नहिं है इसलिये विद्वानोंको मनके नाश करनेमें घोर प्रयत्न करना चाहिये। भावार्थ-मनको संकल्प विकल्प स्वरूप माना है और संकल्प विकल्पोंका न होना मनका नाश है इसलिये जिससमय संकल्प विकल्पोंका नाश अर्थात् मनका अभाव हो जाता है उससमय इंद्रिय भी नष्ट हो जाती हैं अपने स्वामी मनकी प्रेरणाके विना वे स्पर्श आदि अपने विषयोंकी ओर प्रवृत्त नहिं होतीं और इंद्रियोंके नाशसे कर्मोंका नाश होजाता है अर्थात् इंद्रियोंके नाश होजानेपर वश रखनेपर कर्मोंका बंध नहिं होता। बंधके अभावसे नवीन आस्रवका अभाव और प्राचीन कर्मोंकी निर्जरा होती है। आस्रवका अभाव मन वचन काय स्वरूप योगके अभावसे होता है इसलिये योगके अवयवस्वरूप मनके नष्ट हो जानेपर कायस्वरूप इंद्रियोंकी प्रवृत्तिके निषेधसे संवर और निर्जरा होती है और संवर निर्जराके द्वारा समस्त कर्मोंका नाश हो जाता है कर्मोंके नाशसे अनंतज्ञान आदि गुणोंके समुदायस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है और मोक्षमें अविनाशी और अतींद्रिय अव्याबाधमय सुख

प्राप्त होता है इसलिये जब केवल मनके निरोध करनेसे इसप्रकारका अतींद्रिय सुख मिलता है तब विद्वानोंको चाहिये कि वे जिसरूपसे बने उस रूपसे मनका अवश्य निरोध करें–उसे विषयोंकी ओर न दोड़ने दें ॥ ६०–६१ ॥

मणकरहो धावंतो णाणवरत्ताइ जेहिं ण हु बद्धो ।
ते पुरिसो संसारे हिंडंति दुहाइं भुंजंता ॥ ६२ ॥

मन करभो धावन् ज्ञानवरत्रया यैर्न खलु बद्ध ।
ते पुरुषा संसारे हिंडते दु.खानि भुंजतः ॥ ६२ ॥

अर्थ जिन पुरुषोंने विषयोंकी ओर तीव्ररूपसे दोड़ते हुये मनरूपी उष्ट्रको सम्यग्ज्ञानरूपी सांकलसे नहिं बाधा वे पुरुष इस संसारमें सदा घूमते और नानाप्रकारके दुःख पाते रहते हैं । भावार्थ–जिसप्रकार उत्तम वनके उजाड़नेकेलिये दोड़नेवाले उष्ट्रको यदि उसकी रक्षा करनेवाला मनुष्य रस्सी आदिकी सहायतासे उसे नहिं रोकता तो वनका स्वामी राजा कुपित होकर उसे कैदखानेमें पटक देता है और वहांपर वह घोर दुःख भोगता है उसीप्रकार सदा विषयोंकी ओर दोड़नेवाले मनको जो महानु-

मांव भगवान सर्वज्ञके वचनोंपर गाढ श्रद्धानी होकर सम्यग्ज्ञानकी भावनासे नहिं रों
कैता वह चौरासी लाख योनियोंके अंदर भटकता फिरता है और नानाप्रकारके घोरसे
घोर दुःखोंको भोगता है इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे ज्ञानाभ्यासमें मनको नि
श्चलकर परमात्मामें स्थिर करैं। कहा भी है—

अनेकांतात्मार्थप्रसवफलभारातिविनते
वच:पर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते।
समुत्तुंगे सम्यक् प्रततमतिमूले प्रतिदिनं
श्रुतस्कंधे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममु॥

अर्थात्–यह मन मर्कट-बंदरके समान चंचल है इसलिये इसे अनेकांतस्वरूप पुष्प
और फलोंके भारसे नम्र वचनरूपी पत्तोंसे व्याप्त सैकडों नयरूपी शाखाओंसे शोभित
अतिशय ऊंचे और सम्यग्ज्ञानरूपी विस्तृत मूल जडके धारक श्रुतज्ञानरूपी वृक्षपर र
माना चाहिये-शास्त्राभ्यासमें लगाना चाहिये ॥ ६२ ॥

पिच्छइ णरयं पत्तो मणकयदोसेहिं सालिसित्थक्खो।
इय जाणिऊण मुणिणा मणरोहो हवइ कायव्वो॥ ६३॥

प्रेक्षध्वं नरकं प्राप्तो मन:कृतदोषै: शालिसिक्थाख्य: ।

इति ज्ञात्वा मुनिना मनोनिरोधो भवति कर्तव्य. ॥ ६३ ॥

अर्थ-शास्त्रका वचन है कि शालिसिक्थ नामका मत्स्य केवल मनके ही अपराधसे नरक गया था इसलिये ऐसा जानकर मुनियोंको चाहिये कि वे पूर्णरूपसे मनका निरोध करैं । भावार्थ-शालिसिक्थ नामका एक मत्स्य था जो बड़े मत्स्योंसे व्याप्त सरोवरमें किसी विशाल मत्स्यके कानमें रहता था जिससमय बड़ा मत्स्य 'जिसके कि कानमें शालिमत्स्य रहता था' सोता था उससमय उसके विशाल मुहमें अनेक छोटे २ मत्स्य आदि जीव घुसते निकले खेलते और इच्छानुसार बैठते थे । बड़े मत्स्यके मुखमें इसप्रकार छोटे मत्स्य आदि जीवोंकी विचित्र दशा देख शालिसिक्थको बड़ी चिंता होती और वह मनही मन इसप्रकार विचार करने लगता-

'यह बड़ा ही मूर्ख है । क्यों नहिं यह अपने मुखको बंद करलेता? जिससे सब जीव इसके पेटमें चले जांय । यदि मैं ऐसा होता तो सब जीवोंको लील जाता' यद्यपि शालिसिक्थको खानेकेलिये जीवोंकी प्राप्ति न हुई तथापि मनमें वैसा विचार करनेसे रौद्रध्यानी हो घोर पापका उपार्जनकर वह मरकर नरक चलागया इसलिये आत्मिक

सुखके अभिलाषी मुनियोंको चाहिये कि वे मनका सर्वथा निरोध करें--ज़रा भी उसे विषयोंकी ओर लालायित न होने दें ॥ ६३ ॥

सिक्खह मणवसियरणं सवसीभूएण जेण मणुआणं ।
णासंति रायदोसे तेसिं णासे समो परमो ॥ ६४ ॥
उवसमवंतो जीवो मणस्स सक्केइ णिग्गहं काउं ।
णिग्गहिए मणपसरे अप्पा परमप्पओ हवइ ॥ ६५ ॥

शिक्षध्व मनोवशीकरणं स्ववशीभूतेन येन मनुजाना ।
नश्येते रागद्वेषौ तयोर्नाशे समः परमः ॥ ६४ ॥
उपशमवान् जीवो मनसः शक्नोति निग्रहं कर्तुं ।
निगृहीते मन प्रसरे आत्मा परमात्मा भवति ॥ ६५ ॥

अर्थ-ग्रंथकार शिक्षा देते हैं कि हे भव्यो ! तुम अपने मनके वशकरनेका अभ्यास करो क्योंकि जिससमय मन आधीन हो जायगा उससमय जीवोंके रागद्वेष नष्ट हो जायगे । रागद्वेषके नष्ट हो जानेपर परम उपशमकी प्राप्ति होगी । परम उप-

शमकी प्राप्तिसे मनका निग्रह होगा- वह विषयोंकी ओर न दौडेगा और जिससमय मनका पूर्णरूपसे निग्रह हो जायगा उससमय आत्मा परमात्मा बन जायगा। भावार्थ— जो व्यक्ति घाति अघाति समस्त कर्मोंका नाशकर अपने अखड सम्यग्दर्शन आदि गुणोंसे विराजमान है वह परमात्मा है तथा यही आत्मा जिससमय समस्तकर्मोंका नाश कर देता है उससमय परमात्मा कहा जाता है इसलिये ग्रंथकार उपदेश देते हैं कि हे भव्यो! तुम अपने मनको वश करो क्योंकि मनके वश रखनेसे ज्ञानावरण आदि कर्मोंके कारण रागद्वेष आदिकी उत्पत्ति नहिं होती। रागद्वेषके अभावसे परम उपशमकी प्राप्ति होती है। परम उपशमकी प्राप्तिसे मनका निरोध होता है और मनके सर्वथा वश करनेसे आत्मा परमात्मा हो जाता है इसलिये जो पुरुष मोक्षके अभिलाषी हैं उन्हें अवश्य मनका निरोध करना चाहिये ॥ ६४--६५ ॥

जह जह विसएसु रई पसमइ पुरिसस्स णाणमासिज्ज।
तह तह मणस्स पसरो भज्जइ आलंबणारहिओ ॥ ६६ ॥

यथा यथा विषयेषु रतिः प्रशमति पुरुषस्य ज्ञानमाश्रित्य।
तथा तथा मनसः प्रसरो भज्यते आलंबनारहितः ॥

अर्थ-ज्ञानका आलंबन करनेसे ज्यों ज्यों मनुष्यका विषयोंसे प्रेम हटता जाता है त्यों त्यों आश्रयके अभावसे मनका विस्तार भी नष्ट होता चला जाता है। भावार्थ-मनका आधार विषयोंमें रति है जबतक विषयोंमें रति बनी रहती है तबतक वह जरा भी वश नहिं रह सकता और भी अधिक चंचल हो उठता है किंतु जिससमय सम्यग्ज्ञानका आलंबन करलिया जाता है और विषयोंसे प्रेम हट जाता है उससमय आश्रयके अभावसे मनका प्रसार नष्ट हो जाता है इसलिये मनका निरोधकर अनुपम सुखके अभिलाषी मनुष्योंको चाहिये कि वे विषयोंसे सर्वथा मुख मोडें-जरा भी उन्हें प्रेमकी दृष्टिसे न देखें ॥ ६६ ॥ क्योंकि-

विसयालंबणरहिओ णाणसहावेण भाविओ संतो।
कीलइ अप्पसहावे तक्काले मोक्खसुक्खे सो ॥ ६७ ॥

विषयालंबनरहित ज्ञानस्वभावेन भावितं सत्।
क्रीडति आत्मस्वभावे तत्काले मोक्षसौख्ये तत् ॥ ६७ ॥

अर्थ-जिससमय मनके आधार विषय नष्ट हो जाते हैं और उसमें सम्य-

ग्ज्ञानकी भावना हो निकलती है उससमय वह परमात्मस्वरूप मोक्षसुखमें क्रीडा करने लगता है। भावार्थ--जबतक मनमें सम्यग्ज्ञानकी भावना नहिं भाई जाती और उसके आधार विषय नष्ट नहिं होते तबतक वह आत्मस्वरूपके ध्यानमें लीन नहिं होता किंतु जिससमय वह सम्यग्ज्ञानके अभ्यासमें लीन होता है और उसके आधार विषय नष्ट हो जाते हैं उससमय वह आत्मस्वरूपमें अनुराग करने लगता है इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि विषयोंसे प्रेम हटावें और सम्यग्ज्ञानका अभ्यासकर मनको आत्मस्वरूपमें लीन बनावें ॥ ६७ ॥

णिल्लूरह मणवच्छो खंडह साहाउ रायदोसा जे।
अहलो करेइ पच्छा मा सिंचह मोहसलिलेण ॥ ६८ ॥

निर्लूयत मनोवृक्ष खंडयत शाखे रागद्वेषौ यौ।
अफलं कुरुध्वं पश्चात् मा सिंचत मोहसलिलेन ॥ ६८ ॥

अर्थ--इस मनरूपी वृक्षको काट डालो। राग द्वेषरूपी इसकी दोनों शाखाओंके खंड २ करडालो, इसे फलरहित करदो और फिर इसे मोहरूपी जलसे मत सींचो।

भावार्थ--जिसप्रकार वृक्षको काटकर यदि उसमें जल सींचा न जाय तो वह सूख जाता है उसीप्रकार यह मन भी विशाल वृक्ष है और इसकी राग द्वेषरूपी विस्तीर्ण शाखायें हैं क्योंकि राग और द्वेषकी उत्पत्तिमें मन ही प्रधान कारण है इसलिये इस मनको सर्वथा काट डालना चाहिये, राग द्वेष रूप इसकी दोनों शाखाओंको खंड खंड कर डालना चाहिये, इसे सर्वथा फलरहित कर देना चाहिये और यह मेरा है मैं इसका हूं इत्यादि मोहरूपी जलसे इसे न सींचना चाहिये जिससे फिर इसका उदय न हो और यह मोक्षसुखकी प्राप्तिमें बाधा न डाले ॥ ६८ ॥

णट्ठे मणवावारे विसएसु ण जंति इंदिया सव्वे ।
छिण्णे तरुस्स मूले कत्तो पुण पल्लवा हुंति ॥ ६९ ॥

नष्टे मनोव्यापारे विषयेषु न याति इंद्रियाणि सर्वाणि ।
छिन्ने तरोर्मूले कुत पुन पल्लवा भवति ॥ ६९ ॥

अर्थ–जिसप्रकार वृक्षके नष्ट हो जानेपर पल्लवोंकी उत्पत्ति नहिं होती उसीप्रकार जिससमय मनका व्यापार नष्ट हो जाता है उससमय इंद्रियां भी विषयोंमें प्रवृत्त नहिं

होतीं । भावार्थ—जिसप्रकार वृक्ष खडा रहता है तो पल्लव ऊगते हैं और वृक्षके अभावमें पल्लव उदित नहिं होते उसीप्रकार यदि मनका व्यापार कमरत रूपसे जारी रहता है तब तो इंद्रियां अपने अपने विषयोंकी ओर झुकतीं हैं और जिससमय मनका व्यापार नष्ट हो जाता है उससमय इंद्रियां अपने विषयोंमें प्रवृत्त नहिं होतीं तथा विषयोंकी ओर इंद्रियोंकी प्रवृत्तिके अभावसे कर्मबंध नहिं होता और कर्मबंधके अभावसे अव्याबाधमय सुखकी प्राप्ति होती है इसलिये इंद्रियोंकी विषयोंसे प्रवृत्ति रोकनेकेलिये विद्वानोंको मनका व्यापार अवश्य रोकना चाहिये ॥ ६९ ॥

मणमित्ते वावारे णट्ठुप्पण्णे य बे गुणा हुंति ।
णट्ठे आसवरोहो उप्पण्णे कम्मबंधो य ॥ ७० ॥

मनोमात्रे व्यापारे नष्टे उत्पन्ने च द्वौ गुणौ भवतः ।
नष्टे आस्रवरोधः, उत्पन्ने कर्मबंधश्च ॥ ७० ॥

अर्थ—केवल मनके व्यापारके नष्ट होनेपर या उसके उत्पन्न होनेपर दो गुणोंकी प्राप्ति होती है एक तो जिससमय मनका व्यापार नष्ट होता है उससमय कर्मोंका

आना वंद हो जाता है और दूसरा जिससमय मनका व्यापार उत्पन्न होता है उससमय
कर्मोंका बंध होता है। भावार्थ–कर्मोंका बंध संसारका और कर्मोंके आस्रवका नि-
रोध अर्थात् संवर मोक्षका कारण है क्योंकि जबतक कर्मोंका आत्माके साथ संबंध
रहता है तबतक नरक आदि कुगतियोंमें घूमना पड़ता है और नानाप्रकारके क्लेश
भोगने पड़ते हैं किंतु जिससमय कर्मोंका आगमन बंद होजाता है और पूर्वसंचित
कर्म क्रम क्रमसे जीर्ण होते जाते हैं उससमय अव्याबाधमय मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती
है परंतु ये दोनों बातें मनके व्यापारके आधीन हैं अर्थात् जबतक मनका व्यापार
उत्पन्न होता रहता है तबतक कर्मोंका बंध होता रहता है और कर्मबंधकी कृपासे
संसारमें घूमकर महाभयंकर दुःखोंका सामना करना पड़ता है एवं जिससमय उसका
व्यापार नष्ट होजाता है उससमय नवीन कर्मोंका आगमन बंद होजाता है, नवीन
कर्मोंके आगमनके वंद होजानेपर पूर्वसंचित कर्मोंकी निर्जरा होती है पश्चात् अव्या-
बाधमय मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है। इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे विषयोंकी
ओर जरा भी मनको न फटकने दें–उसे सर्वथा वश रक्खें ॥ ७० ॥

परिहरिय रायदोसे सुण्ण काऊग णियमणं सहसा।

अत्थइ जाव ण कालं ताव ण णिहणेइ कम्माइं ॥ ७१ ॥

परिहृत्य रागद्वेषौ शून्यं कृत्वा निजमनः सहसा ।
तिष्ठति यावन्न कालं तावन्न निहंति कर्माणि ॥ ७१ ॥

अर्थ–जबतक राग द्वेषको नष्टकर मनको शून्य-विषयोंसे विमुख न किया जायगा तबतक कर्मोंका नाश नहिं हो सकता । भावार्थ–जबतक मनको विषयोंसे विमुख नहिं किया जाता और शुद्धात्माके ध्यानकी ओर नहिं झुकाया जाता तबतक विषयोंमें लालसा रहनेसे सदा रागद्वेषकी उत्पत्ति होती रहती है तथा जब तक आत्मामें राग द्वेष विद्यमान रहते हैं तबतक सदा कर्मोंका आस्रव हुआ करता है इसलिये जो पुरुष यह चाहते हैं कि हमैं अव्याबाधमय सुख मिले और कर्मोंके कारण राग द्वेष आदि नष्ट हो जांय उन्हैं चाहिये कि वे मनको सर्वथा वश करैं । कहा भी है–

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलं । स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः ।
अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रांतिरात्मनः । धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः ॥

अर्थात्–जिस महानुभावका मनरूपी जल राग द्वेषरूप कल्लोलोंसे अलोल है-चंचलतारहित है वही मनुष्य आत्मस्वरूपका भलेप्रकार साक्षात्कार कर सकता है अन्य-

चंचलचित्तका धारक मनुष्य उसके स्वरूपको नहिं देख सकता। तथा मनमें किसी प्रकारकी चपलताका न होना विषयोंकी ओर न झुकना आत्मस्वरूपकी प्राप्ति है और मनका चंचल रहना आत्मस्वरूपकी प्राप्तिकी भ्रांति है इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि मनको सदा निश्चल रक्खें-विषय वासनाकी ओर झुकाकर चंचल न होने दें ॥७१॥

तणुवयणरोहणेहिं रुज्झंति ण आसवा सकम्माणं।
जाव ण णिप्फंदकओ समणा मुणिणा सणाणेण ॥ ७२ ॥

तनुवचनरोधनाभ्यां रुध्यन्ते न आस्रवाः स्वकर्मणां।
यावन्न निष्पन्दीकृत स्वमनो मुनिना स्वज्ञानेन ॥ ७२ ॥

अर्थ-जबतक मुनि आत्मिकज्ञानसे अपने मनको निश्चल नहिं बनाता-वश नहिं करता तबतक शरीर और वचनके निरोध करनेपर भी कर्मोंका आस्रव हुआ करता है। भावार्थ-मन वचन कायकी क्रियाका नाम ही आस्रव है-जबतक मन वचन काय वश नहिं होते तबतक सदा कर्मोंका आस्रव हुआ करता है। तथा इन तीनोंमें सबसे प्रथम मन वश करना आवश्यक है क्योंकि शरीर और वचनके वश रहनेपर

भी यदि मन वश नहिं किया जाता तो ज्ञानावरण आदि कर्मोंका सदा आस्रव होता ही रहता है इसलिये जो मुनिगण इसबातके अभिलाषी हैं कि, हमारी आत्मामें किसीप्रकारके कर्मोंका आस्रव न हो उन्हें चाहिये कि वे अपने विशुद्ध ज्ञानके बलसे मनको अवश्य वश रक्खें ॥ ७२ ॥

खीणे मणसंचारे तुट्ठे तह आसवे य दुवियप्पे ।
गलइ पुराणं कम्मं केवलणाणं पयासेइ ॥ ७३ ॥

क्षीणे मन संचारे त्रुटिते तथास्रवे द्विविकल्पे ।
गलति पुरातनं कर्म केवलज्ञानं प्रकाशयति ॥ ७३ ॥

अर्थ-मनके संचारके क्षीण होजानेपर जिससमय दोनोंप्रकारके आस्रवका अभाव होजाता है उससमय प्राचीन कर्म सर्वथा नष्ट होजाते हैं और केवलज्ञानका उदय हो जाता है। भावार्थ-शुभ और अशुभके भेदसे आस्रव दो प्रकारका है शुभ कर्मोंका आना शुभ आस्रव और अशुभ कर्मोंका आना अशुभ आस्रव है अथवा द्रव्यास्रव और भावास्रवके भेदसे भी आस्रवके दो भेद हैं ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि द्रव्य

कर्मोंका आना द्रव्यास्रव और रागद्वेष आदि भाव कर्मोंका आना भावास्रव कहलाता है। जबतक मनको वश नहिं किया जाता--विषयोंकी ओर उसके झुकावको नहिं रोका जाता तबतक सदा दोनों प्रकारका आस्रव हुआ करता है जिससमय वह वश करलिया जाता है उससमय दोनोंप्रकारके कर्मास्रवोंका भी निरोध हो जाता है तथा दोनों प्रकारके आस्रवोंके रुक जानेपर पूर्वसंचित कर्म भी नष्ट होजाते हैं और पूर्वसंचित कर्मोंके नाशसे केवलज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है इसलिये जो महानुभाव दोनों प्रकारके आस्रवोंका और पूर्वसंचित कर्मोंका नाश करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे मनको सर्वथा वश रक्खें-इंद्रिय विषयोंकी ओर उसे न झुकने दें ॥ ७३ ॥

जइ इच्छहि कम्मखयं सुण्णं धारेहि णियमणो झत्ति।
सुण्णीकयम्मि चित्ते णूणं अप्पा पयासेइ ॥ ७४ ॥

यदीच्छासि कर्मक्षय शून्य धारय निजमनो झटिति।
शून्यीकृते चित्ते नूनमात्मा प्रकाशयति ॥ ७४ ॥

अर्थ-ग्रंथकार उपदेश देते हैं कि-हे क्षपक! यदि तू समस्तकर्मोंका क्षय करना

चाहता है तो तू अपने मनको शीघ्र ही शून्य बना-चित्तमें किसीप्रकारकी लाभ पूजा भोगोंकी आकांक्षा न कर। क्योंकि जिससमय मन शून्य हो जायगा उससमय तेरी शुद्धस्वरूप आत्मा प्रकाशमान हो जायगी। भावार्थ—जिसप्रकार मेघसे ढका हुआ सूर्य स्पष्टरूपसे प्रकाशमान नहिं होता किंतु जिससमय मेघका आवरण नष्ट हो जाता है उससमय वह पूर्णरूपसे प्रकाशमान हो जाता है उसीप्रकार जबतक आत्मापर कर्मोंका आवरण पड़ा रहता है तबतक इसका विशुद्ध स्वरूप नहि उदित होता किंतु जिससमय वह आवरण सर्वथा नष्ट हो जाता है उससमय सर्वथा आत्माका विशुद्ध स्वरूप उदित हो जाता है तथा कर्मोंका आवरण तभीतक बना रहता है जबतक मनमें लाभ पूजा और भोग आदिकी आकांक्षा बनी रहती है इसलिये जो महानुभाव विशुद्ध आत्मस्वरूपके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे लाभ ख्याति और भोग आदिकी सर्वथा आकांक्षा छोड़ मनको शून्य बनावें। कहा भी है—

> सर्वभावविलये विभाति यत्सत्समाधिभरनिर्भरात्मनः।
> चित्स्वरूपममितः प्रकाशकं शर्मधाम नमताद्भुतं महः॥

अर्थात् समस्त विभाव भावोंके नष्ट हो जानेपर समीचीन समाधिके भारसे नम्री-

भूत आत्मामें जो अद्भुत तेज प्रकाशमान जान पड़ता है वह तेज चैतन्यस्वरूप है चारो ओरसे पदार्थोंका प्रकाश करनेवाला और परम कल्याणका धाम है इसलिये वह नमस्कार करनेके योग्य है ॥ ७४ ॥

उद्धामहि णियचित्तं वसहि सहावे सुणिम्मले गंतुं ।
जह तो पिच्छसि अप्पा सण्णाणो केवलो सुद्धो ॥ ७५ ॥

उद्धामयासि निजचित्त वससि सद्भावे सुनिर्मले गत्वा ।
यदि तदा पश्य स्वात्मान सज्ञान केवल शुद्धं ॥ ७५ ॥

अर्थ–हे क्षपक ! यदि तू अपने मनको इंद्रियोंके विषयोंकी ओर न झुकने देगा और विशुद्ध दर्शन ज्ञानस्वरूप परमात्मामें उसीकी प्राप्तिकेलिये निवास करेगा तो तुझे समीचीन ज्ञानके भंडार असहाय और विशुद्ध आत्मस्वरूपकी अवश्य प्राप्ति हो जायगी । भावार्थ–निश्चयनयसे आत्मा संशय विपर्यय और अनध्यवसाय रूप मिथ्याज्ञानोंसे रहित समीचीन ज्ञानका भंडार है उसे किसी पदार्थकी सहायताकी अपेक्षा नहि करनी पड़ती इसलिये केवल-असहाय है और समस्त कर्मावरणोसे रहित होनेके

कारण विशुद्ध है तथा ऐसे अनुपम आत्माकी प्राप्ति चित्तको इंद्रिय विषयोंसे हटानेपर और विशुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्तिकेलिये उसीमें स्थिति करनेपर होती है इसलिये ग्रंथकारका उपदेश है कि हे क्षपक ! यदि तू विशुद्ध आत्मस्वरूपका साक्षात्कार करना चाहता है तो तू अपने चित्तको इंद्रियविषयोंसे रोक और विशुद्ध आत्मस्वरूपमें स्थिरकर तुझ अवश्य विशुद्ध आत्मस्वरूपका साक्षात्कार होगा। जैसा कि कहा है—

यदि विषयपिशाची निर्गता देहगेहात् सपदि यदि विशीर्णो मोहनिद्रातिरेकः ।
यदि युवतिकरङ्के निर्ममत्वं प्रपन्नो झगिति ननु विधेहि ब्रह्मवीथीविहारं ॥

अर्थात् यदि विषयरूप पिशाचिनी देहरूप घरसे बाहर निकल गई हो यदि मोहनींद सर्वथा नष्ट होगई हो और यदि युवतियोंमें भी निर्ममता होगई हो तो हे क्षपक ! तू शीघ्र ही ब्रह्मरूपी गलीमें विहार कर—विशुद्ध आत्मस्वरूपका ध्यानकर ॥ ७५ ॥

तणुमणवयणे सुण्णो ण य सुण्णो अप्पसुद्धसब्भावे ।
ससहावे जो सुण्णो हवइ य सो गयणकुसुमणिहो ॥ ७६ ॥

तनुमनोवचने शून्यो न च शून्य आत्मशुद्धसद्भावे ।
स्वसद्भावे यः शून्यो भवति च स गगनकुसुमनिभः ॥ ७६ ॥

अर्थ—क्षपकको चाहिये कि वह शरीर मन वचनकी क्रियाओंमें शून्य रहै आत्माके विशुद्धस्वरूपकी प्राप्तिमें शून्य न बने क्योंकि आत्मस्वरूपमें शून्य मनुष्य आकाशके फूलके समान निरर्थक होता है। भावार्थ—क्रियायें दो प्रकारकी हैं शुभरूप और अशुभरूप, देवपूजन पात्रदान आदि शरीरकी शुभ क्रियायें हैं, हिंसा करना मारना पीटना आदि अशुभ क्रियायें हैं। देव गुरुओंके गुणोंका स्मरण करना शास्त्रके अर्थका मनन करना आदि मनकी शुभ क्रियायें हैं और मारने बांधने और चोरी आदिके करनेका विचार करना अशुभ क्रियायें हैं। देव गुरु शास्त्रकी स्तुति आदि करना वचनकी शुभ क्रियायें हैं और गाली गलोज करना आदि अशुभ क्रियायें हैं। जो पुरुष मुमुक्षु हैं मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे काय मन वचन तीनोंकी शुभ अशुभ दोनों प्रकारकी क्रियाओंमें शून्य रहैं किसी भी क्रियाके करनेका उद्योग न करै क्योंकि इन क्रियाओंके करनेसे शुभ अशुभ कर्मोंका बंध होता है और उस बंधसे संसारमें घूमनेके कारण अनंते दुःख भोगने पड़ते हैं। क्योंकि—

आस्तां बहिरुपधि [धि च] र्यैस्तनुवचनविकल्पजालमप्यपरं।
कर्मकृतत्वान्मत्तः कुतो विशुद्धस्य मम किंचित्॥

अर्थात् मेरी आत्मा निश्चयनयसे विशुद्ध है इसलिये धन धान्य आदि बाह्य परिग्रह तो दूर रहैं शरीर वचन मन भी मेरे नही क्योंकि ये कर्मोंके विकार हैं इसलिये मुझसे सर्वथा भिन्न हैं-कभी ये मेरे निज नहिं हो सकते। और भी कहा है—

कर्मणो यथा स्वरूपं न तथा तत्कर्म कल्पनाजालं।

तत्रात्ममतिविहीनो मुमुक्षुरात्मा सुखी भवति ॥

अर्थात्- कर्मका जैसा स्वरूप दीखता है- योग्य सामग्रीके मिलनेसे कुछ सुखसा प्रतीत होता है कर्म वैसा नही है, वहांपर दुःखमें सुखकी कल्पना है इसलिये जो मोक्षाभिलाषी मनुष्य कर्मोंमें आत्मबुद्धि नहिं करते-उन्हें भिन्न समझते हैं वे ही सुखी कहे जाते हैं-संसारमें घूमकर उन्हें दुःख नहिं भोगना पड़ता। परंतु राग आदि मलोंसे रहित आत्माके स्वरूपकी प्राप्तिसे शून्य न बनाना चाहिये। विशुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्तिकेलिये तो सदा उद्बुद्ध रहना चाहिये क्योंकि—

अस्पृष्टमबद्धमनन्यमयुतमविशेषमभ्रमोपेतः।

यः पश्यत्यात्मानं स पुमान् खलु शुद्धनयनिष्ठः ॥

अर्थात्—निश्चयनयसे आत्मा अस्पृष्ट-कर्मोंके स्पर्शसे रहित है, अबद्ध-कर्मबंधसे वि-

मुक्त है, अनन्य सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनादि निजगुणस्वरूप है अयुत-कर्मस्वरूप नहीं है अविशेष-सम्यग्ज्ञान आदि गुणोंसे अभिन्न है और भ्रमज्ञानसे रहित है । जो महानुभाव इसप्रकारके आत्मस्वरूपका साक्षात्कार करता है वह पुरुष शुद्ध निश्चयावलंबी गिना जाता है-संसारमें उसे दुःख नहिं भोगने पड़ते ।

किंतु जो मनुष्य विशुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमें शून्य है आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके-लिये प्रयत्न करना अनुचित समझता है वह पुरुष आकाशके फूलके समान निरर्थक है संसारमें उसका जीवन जरा भी कार्यकारी नहीं इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे मन वचन कायकी क्रियाओंकी ओर न झुककर आत्मस्वरूपकी प्राप्तिकेलिये अवश्य प्रयत्न करें ॥ ७६ ॥

सुण्णज्झाणपइट्ठो जोई ससहावसुक्खसंपण्णो ।
परमाणदे थक्को भरियावत्थो फुडं हवई ॥ ७७ ॥

शून्यध्यानप्रविष्टो योगी स्वसद्भावसौख्यसंपन्नः ।
परमानन्दस्थितो भृतावस्थः स्फुटं भवति ॥ ७७ ॥

अर्थ—जो योगी निर्विकल्पक समाधिमें स्थित है परमात्माके अनंतज्ञानादि लक्षण स्वभावसे उत्पन्न सुखसे संयुक्त है और विशुद्ध परमब्रह्मके आराधनसे उत्पन्न जो आनदामृतका रस उससे तृप्त है वह योगी निश्चयसे भृतावस्थ अर्थात् पूर्ण कलशके समान अविनश्वर अनुपम मुक्तिके आनदसे परिपूर्ण हो जाता है । क्योंकि—

जायंते विरसा रसा विघटते गोष्ठी कथा कौतुकं
शीर्यंते विषयास्तथा विरमति प्रीतिः शरीरेऽपि च ।
जोषं वागपि धारयत्यविरतानंदा मनः स्वात्मन-
श्चितायामपि यातुमिच्छति मनो दोषैः समं पंचतां ॥

अर्थात्—निरंतर आनंद स्वरूप शुद्ध आत्माकी चिंता करने मात्रसे विषयरस विरस हो जाते हैं, उत्तम गोष्ठी और कथा वार्ताका कुतूहल नष्ट हो जाता है । समस्त विषय एक ओर किनारा कर जाते हैं । शरीरसे भी प्रीति हट जाती है, वचन बोलना भी वद हो जाता है और समस्त दोषोंके साथ मन भी नष्ट हो जाता है। तो जो मनुष्य इसप्रकारकी निर्विकल्पक समाधिमें स्थित है परमानंद स्वरूप आत्मिक सुखसे संपन्न है और विशुद्ध परब्रह्म परमात्माके आराधनसे उत्पन्न हुये आनंदरूपी अमृत-

रसमें मगन है वह पुरुष अमृतरससे परिपूर्ण घडेके समान परमानंदरूपी रससे परिपूर्ण हो जाता है—उसे परम आनंददायिनी मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है ॥ ७७ ॥
ग्रंथकार भी शून्यध्यानका लक्षण बतलाते हैं—

जत्थ ण झाणं झेयं झायारो णेव चिंतणं किंपि ।
ण य धारणा वियप्पो तं सुण्णं सुट्ठु भाविज्ज ॥७८॥

यत्र न ध्यानं ध्येय ध्यातारो नैव चिंतनं किमपि ।
न च धारणा विकल्पस्तत् शून्यं सुष्ठु भावये ॥ ७८ ॥

अर्थ—जहांपर न ध्यान है न ध्येय है न ध्याता है न चिंता है न धारणा और न विकल्प है वही शून्यध्यान-निर्विकल्पक समाधि समझना चाहिये । भावार्थ-आर्त रौद्र धर्म्य और शुक्लके भेदसे वा पदस्थ पिंडस्थ रूपस्थ और रूपातीतके भेदसे ध्यान चार प्रकारका है । भगवान जिनेंद्र बुद्ध महादेव ब्रह्मा आदि अनेक प्रकारके ध्येय हैं । तथा -

शुचिः प्रसन्नो गुरुदेवभक्तः सत्यव्रतः शीलदयासमेतः ।

वक्षः पटुर्बीजपदावधारी ध्याता भवेदीदृश एव लोके ॥

अर्थात्—जो पवित्र हो, सदा प्रसन्न रहता हो। गुरु और देवमें भक्ति रखने वाला हो, सत्यवक्ता शील और दयाका भंडार चतुर और बीजाक्षर किंवा बीज पदोंका पूर्ण ज्ञाता हो वह वास्तविक ध्याता–ध्यान करनेवाला है। शत्रुका मरण, स्त्री राज्य आदिकी प्राप्तिका विचार करना चिंता, एकवार जानकर उस पदार्थको कालांतरमें न भूलना धारणा और असंख्यात लोकप्रमाण नानाप्रकारके विकल्प करना विकल्प हैं। तो जबतक निर्विकल्प समाधिका अवलंबन नहिं किया जाता तबतक ध्यान ध्येय ध्याता आदिका विकल्प विद्यमान रहता है और जिससमय निर्विकल्पक समाधिमें लीन हो जाना पड़ता है उससमय कोई भी भेद दृष्टिगोचर नहिं होता, इसलिये जहां पर ध्यान ध्येय आदिका विकल्प नहीं वही शून्यध्यान वा निर्विकल्प समाधि है। तथा इसप्रकारकी निर्विकल्प समाधिका धारण करनेवाला और नयोंके पक्षपातसे रहित महानुभाव स्वरूपगुप्त-स्वस्वरूपमें लीन होता है एवं परमानदरूप अमृतका रसास्वादन करता है। जैसा कि कहा है—

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यं।

विकल्पजालच्युतशांतचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबंति ॥ ॥

अर्थात्-जो ज्ञानवान मनुष्य नयोंके पक्षपातको छोड़कर स्वस्वरूपमें लीन रहते हैं और समस्त प्रकारके विकल्पोंसे रहित होनेसे जिनका चित शांत हैं वे मनुष्य साक्षात् अमृतका पान करते हैं। और भी कहा है-

अखंडितमनाकुलं ज्वलदनंतमंतर्बहिर्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालंबते यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितं ॥

अर्थात्-जो परम तेज अखंडित है-ज्ञेय पदार्थोंके जैसे आकार हैं वैसे ही जहां प्रतिभासित रहते हैं--आकार खंडित नहिं होते, अनाकुल है-कर्मके द्वारा उत्पन्न हुई आकुलतासे रहित है, अविनाशीरूपसे अंतरंग और बहिरंगमें जाज्वल्यमान है, स्वाभाविक है, उन्नत विलाससे युक्त है, सदा चैतन्यके उच्छलनसे परिपूर्ण है और जिसप्रकार लवणकी डली सदा एक क्षाररसस्वरूप रहती है उसीप्रकार यह तेज भी सदा एक चैतन्य स्वरूप है उस परम तेजकी हमें प्राप्ति हो-हम स्वस्वरूपमें लीन होवें ऐसी भावना है ॥ ७८ ॥

जो खलु सुद्धो भावो सो जीवो चेयणावि सा उत्ता।

तं चेव हवदि णाणं दंसणचारित्तायं चेव ॥

य खलु शुद्धो भावः स जीवश्चेतनापि सा उक्ता ।

तच्चैव भवति ज्ञान दर्शनचारित्र चैव ॥ ७९ ॥

अर्थ- राग द्वेष मोह आदि दोषोंसे रहित जो चैतन्य भाव है वह जीव है उसीको चेतना कहते हैं और वही ज्ञान दर्शन चारित्र कहा जाता है । भावार्थ- व्यवहार और निश्चयके भेदसे नय दो प्रकारके हैं यद्यपि व्यवहारनयसे शुद्धभाव चेतना ज्ञान दर्शन और चारित्र भिन्न भिन्न हैं तथापि निश्चयनयसे उसमें कोई भेद नहीं अर्थात् रागद्वेष मोह आदि दोषोंसे रहित जो चैतन्यभाव है वही जीव है उसीका दूसरा नाम चेतना है और वही ज्ञान दर्शन आर चारित्र है । जैसा कि कहा है-

तदेकं परमं ज्ञानं तदेकं शुचि दर्शनं ।

चारित्रं च तदेकं स्यात्तदेक निर्मलं तपः ॥

अर्थात्- वह आत्मा ही परम ज्ञान है । वही परम दर्शन सम्यग्दर्शन है । वही सम्यक् चारित्र और वही निर्मल तप है । और भी कहा है-

नमस्यं च तदेवैकं तदेवैकं च मंगलं ।

उत्तमं च तदेवैकं तदेव शरणं सतां ॥ २ ॥

अर्थात्-वह आत्मा ही नमस्कार करनेके योग्य है वही परममंगल स्वरूप है वही समस्त पदार्थोंमें उत्तम है और वही सज्जनोंका शरण है । समयसारकलशमें भी कहा है-

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयं ।
विज्ञानैकरसः स एष भगवान् पुण्यः पुराणः पुमान्
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किंचनैकोप्ययं ॥

अर्थात्-नयोंके पक्षपातसे रहित, निश्चल और निर्विकल्पक स्वभावको धारण करनेवाला जो समयका सार है विशुद्ध परमात्माका स्वरूप है वह उसके स्वरूपमे मग्न विद्वानोंसे स्वयं आस्वादन किया हुआ देदीप्यमान है-उसके स्वरूपमें मग्न हुए विद्वान स्वय उसका सदा रसास्वादन किया करते हैं तथा वह समयसार भगवान विज्ञानरूपी रसस्वरूप है, पवित्र है, पुरातन है, ज्ञान और दर्शनस्वरूप है, विशेष कहां तक कहा जाय ? सम्यग्दर्शन अनंत सुख आदि भी जो पदार्थ अनुभवमें आते हैं वे भी समयसार-परमात्मस्वरूप ही हैं-परमात्मस्वरूपसे भिन्न नहीं ।

दंसणाणचारित्ता णिच्छयवाएण हुंति ण हु भिण्णा ।
जो खलु शुद्धो भावो तमेव रयणत्तयं जाण ॥ ८० ॥

दर्शनज्ञानचारित्राणि निश्चयवादेन भवति नहि भिन्नानि ।
य. खलु शुद्धो भावस्तमेव रत्नत्रय जानीहि ॥ ८० ॥

अर्थ—निश्चयनयसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रआत्मासे भिन्न नहीं आत्मस्वरूप ही हैं इसलिये कर्ममलसे रहित जो आत्माका विशुद्ध भाव है वह रत्न-त्रय ही है । भावार्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रके लक्षण जुदे जुदे हैं आत्माके नामसे इनके नाम भी भिन्न २ हैं इसलिये यद्यपि लक्षण संज्ञा आदिके भेदसे व्यवहार नयसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र भिन्न हैं तथापि निश्चयनयसे उनमें कोई भेद नहीं जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र हैं वे ही आत्मा है और जो आत्मा है वही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र हैं। कहा भी है-

आत्मनि निश्चयबोधस्थितयो रत्नत्रयं भवक्षतये ।
भूतार्थपथप्रस्थितबुद्धेरात्मैव तत्त्रितयं ॥

अर्थात्–आत्माका निश्चय, उसका भले प्रकार ज्ञान और उसमें स्थिति करना
रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र है और इस रत्नत्रयसे संसार-
का नाश होता है–तथा निश्चयनयसे आत्मा ही तीनों स्वरूप है-सम्यग्ज्ञान आदि
पदार्थ आत्मासे भिन्न नहीं। समयसारकलशमें भी कहा है–

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छं।
सततमनुभवामोऽनंतचैतन्यचिह्नं न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः॥

अर्थात्-यद्यपि किसी प्रकारसे–व्यवहार नयसे यह आत्मस्वरूप तेज सम्यग्दर्शन
सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीन स्वरूप है परंतु निश्चयनयसे एक स्वरूप ही
है स्वाभाविक निर्मलतारूपसे सदा उदयको प्राप्त है और अनंत चैतन्यस्वरूप लक्ष-
णका धारक है इसलिये हम ऐसे विशुद्ध आत्माका ही अनुभव करना चाहते हैं
क्योंकि विशुद्ध आत्मस्वरूपके अनुभव करनेसे ही हमें आत्मस्वरूपकी प्राप्ति हो
सकती है और प्रकारसे विशुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्ति असंभव है ॥ ८० ॥

तत्तियमओ हु अप्पा अवसेसालंबणेहिं परिमुक्को।

उत्तो स तेण सुण्णो णाणीहि ण सव्वदा सुण्णो ॥८१॥

तत्त्रिकमयो हि आत्मा अवशेषालंबनैः परिमुक्त. ।

उक्तः स तेन शून्यो ज्ञानिभिर्न सर्वदा शून्य ॥ ८१ ॥

अर्थ--सम्यग्दर्शन आदि तीनों स्वरूप आत्मा राग क्रोध आदि विभाव भावोंके अवलंबनसे रहित है इसलिये वह शून्य कहा है सर्वथा शून्य नहीं । भावार्थ--लोग आत्माको शून्य बतलाते हैं परंतु वह सर्वथा शून्य नहीं क्योंकि वह सम्यग्दर्शन आदि स्वरूप है इसलिये काम क्रोध मान माया आदि विभाव परिणामोंसे रहित होनेके कारण तो वह कथंचित् शून्य है परंतु सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान आदि गुण स्वरूप होने से अशून्य है । इसी वातको समयसारकलशमें भी कहा है--

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजे-

त्तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्सास्तित्वमेव त्यजेत् ।

तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-

दात्मा चांतमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित् ॥

अर्थात्--यदि चेतनाको सर्वथा अद्वैत--एक स्वरूप स्वीकार किया जायगा तो

वह दर्शन ज्ञान स्वरूप न सिद्ध हो सकैगी। दर्शन ज्ञानरूप सिद्ध न होनेपर सामान्य और विशेष रूपताके अभावसे चेतनाका अस्तित्व ही न बन सकेगा तथा चेतनाके अभावमें आत्मा जड सिद्ध होगा क्योंकि विना व्यापक चेतनाके व्याप्य आत्मा सिद्ध नहिं हो सकता एवं इसरूपसे आत्माका अंत ही हो जायगा–आत्मा पदार्थ ही सिद्ध न हो सकैगा इसलिये यह निश्चय है कि आत्मा दर्शन ज्ञान चारित्रस्वरूप है–दर्शन आदि गुणोंसे शून्य नहीं। और भी कहा है -

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो॥

अर्थात्–यद्यपि व्यवहारसे आत्मामें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र हैं परंतु निश्चयनयसे न ज्ञान है न दर्शन है और न चारित्र है। किंतु वह सम्यग्दर्शन आदि तीनों स्वरूप है और सम्यग्दर्शन आदि तीनों स्वरूप होनेसे सर्वथा शून्य नहीं। और भी कहा है—

सम्यक्सुखबोधदृशां त्रितयमखण्डं परात्मनो रूपं।
तत्त्रितयतत्परो यः स एव तल्लब्धिकृतकृत्यः॥ ३॥

अर्थात्–निश्चयनयसे सम्यक् सुख, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन तीनों ही अखंड परमात्माके स्वरूप हैं तथा जो महानुभाव सम्यग्दर्शन आदि स्वरूप परमात्मामें लीन होता है वह उसे प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है फिर उसे संसारके किसी प्रकार के दुःखका सामना नहिं करना पड़ता ॥ ८१ ॥

एवं गुणो हु अप्पा जो सो भणिओ हु मोक्खमग्गोत्ति ।
अहवा स एव मोक्खो असेसकम्मक्खए हवई ॥ ८२ ॥

एवं गुणो ह्यात्मा स भणितो हि मोक्षमार्ग इति ।
अथवा स एव मोक्षः, अशेषकर्मक्षये भवति ॥ ८२ ॥

अर्थ–इसप्रकार सम्यग्दर्शन आदि गुणस्वरूप आत्मा ही मोक्षका मार्ग है अथवा समस्त कर्मोंके सर्वथा क्षय होनेपर वही आत्मा साक्षात् मोक्ष है । भावार्थ–समस्तकर्मोंका जो सर्वथा नाश होजाना है वह मोक्ष है और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र उस मोक्षके मार्ग हैं इसलिये सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रस्वरूप आत्मा ही मोक्षका मार्ग है अथवा जिससमय समस्तकर्म नष्ट होजाते हैं और

आत्मा अखंड सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप हो जाता है वही अवस्था मोक्ष है इसलिये समस्त कर्मोंके सर्वथा नाश होजानेपर अखंड सम्यग्दर्शन आदि स्वरूप आत्मा ही साक्षात् मोक्ष कहा जाता है ॥ ८२ ॥

जाम वियप्पो कोई जायइ जोइस्स झाणजुत्तस्स ।
तामण सुण्णं झाणं चिंता वा भावणा अहवा ॥ ८३ ॥

यावद्विकल्प कश्चिदपि जायते योगिनो ध्यानयुक्तस्य ।
तावन्न शून्य ध्यान चिंता वा भावना अथवा ॥ ८३ ॥

अर्थ- ध्यानशील योगीके चित्तमें जबतक किसीप्रकारका विकल्प विद्यमान रहता है तबतक उसके शून्य ध्यान-निर्विकल्पक समाधि नहिं होती किंतु परमात्माके गुणोंकी चिंता-स्मरण, भावना पुनः पुनः स्मरण बना रहता है। भावार्थ-ऊपर कह दिया जा चुका है कि जिसमें ध्याता ध्यान ध्येय आदिका विकल्प न हो वह शून्य ध्यान है। यदि ध्यानी मनुष्यके ध्यानके समय ध्याता ध्येय ध्यान आदिका किसी कारण वश विकल्प उठ खड़ा हुआ तो उसके शून्य ध्यान न बन सकेगा। यहांपर

यह शंका न करनी चाहिये कि जो पुरुष निर्विकल्पक समाधिका धारक है उसके चित्तमें कैसे विकल्प उठ सकता है? क्योंकि पहिले विभ्रम आत्मामें मोजूद था इसलिये उस पूर्वविभ्रम संस्कारसे जबरन विकल्प उठ सकते हैं। जैसा कि कहा है—

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि।
पूर्वविभ्रमसंस्कारात् भ्रांतिं भूयोऽपि गच्छति॥

अर्थात्-आत्माके स्वरूपको भलेप्रकार जाननेवाले और समस्त परपदार्थोंसे रहित हो उसके विशुद्धस्वरूपकी भावना करनेवाले भी मनुष्यके पूर्व विभ्रम संस्कारके उदयसे भ्रांति उठ खड़ी होती है-उसके चित्तमें भी विकल्पोंका संचार हो निकलता है।

किंतु उस अवस्थामें उस योगीके परमात्माके गुणोंका स्मरण रूप चिंता और उसके गुणोंका पुनः पुन चिंतवनरूप भावना होती है। वास्तवमें शून्य ध्यान ही परम हितकारी है क्योंकि जो योगी आत्मस्वभावका अवलंबन करनेवाला और संकल्प विकल्पोंको दलित करनेवाला है उसे परम कल्याणकारी शुद्धनयकी प्राप्ति होती है। समयसारकलशमें कहा भी है—

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यंतविमुक्तमेकं।

विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ॥

अर्थात्-परपदार्थ और उनके विभाव भावोंसे भिन्न, समस्त लोक अलोकके पदार्थोंके जाननेवाले, अनादि अविनाशी परपदार्थोंसे रहित एक और समस्तप्रकारके संकल्प विकल्पोंसे रहित आत्मस्वभावको प्रकाशित करनेवाले विशुद्धनयका उदय होता है-संकल्प विकल्प अवस्थामें विशुद्धनयका उदय नहिं हो सकता। इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे बड़ी दृढ़तासे निर्विकल्पक समाधिका आराधन करें जिससे उन्हें शुद्धनयकी प्राप्ति होजाय ॥ ८३ ॥

लवणव्व सलिलजोए झाणे चित्तं विलीयए जस्स।
तस्स सुहासुहडहणो अप्पाअणओ पयासेइ ॥ ८४ ॥

लवणमिव सलिलयोगे ध्याने चित्त विलीयते यस्य।
तस्य शुभाशुभदहन आत्मानल. प्रकाशयति ॥ ८४ ॥

अर्थ–जिसप्रकार जलके संबधसे लवण विलीन हो जाता है उसीप्रकार जिस मनुष्यका मन विलीन हो जाता है निर्विकल्पक समाधि वा धर्म्यध्यान शुक्लध्यानके माहात्म्यसे नष्ट हो जाता है उस मनुष्यके शुभ अशुभ दोनोंप्रकारके कर्मोंका नाश कर-

नेवाली आत्मारूपी अग्नि प्रकाशमान होने लगती है। भावार्थ—जिसके द्वारा सुरेंद्र नरेंद्र धरणेंद्र आदिकी संपत्तिकी प्राप्ति हो वह शुभ कर्म और जिससे नरक आदिके दुःख भोगने पड़े वह अशुभ कर्म है। जबतक इन शुभ अशुभ कर्मोंका आत्माके साथ संबंध रहता है तबतक कभी भी आत्मा सुखानुभव नहिं कर सकता और न उसका वास्तविक स्वरूप ही प्रकट होता है। तथा जबतक निर्विकल्पक समाधि वा शुक्लध्यानके द्वारा मन विलीन नहिं होता—इंद्रियविषयोंकी ओर न झुककर आत्मामें लीन नहिं होता वा सर्वथा नष्ट नहिं होता तबतक अवश्य शुभ अशुभ कर्मोंका आत्माके साथ संबंध बना रहता है किंतु जिससमय जितेंद्रिय और शुद्ध आत्माके स्वरूपमें लीन मनुष्यका चित्त जिसप्रकार जलके संबंधसे लवण नष्ट हो जाता है उसीप्रकार निर्विकल्पक समाधिसे नष्ट हो जाता है उससमय शुभ अशुभ कर्म भी सर्वथा नष्ट हो जाते हैं और उनके नष्ट हो जानेसे आत्मा अपने ज्वलंत विशुद्धस्वरूपसे चमचमा निकलता है। परमात्मस्वरूपमें लगाया हुआ मन नष्ट नहिं होता यह बात नहीं है क्योंकि यदि वह परमात्मस्वरूपमें जीवित रहता, वा वह वहां रहना अच्छा समझता तो उसे छोड बाह्य पदार्थोंमें क्यों भटकता फिरता। जैसा कि कहा है—

नूनमत्र परमात्मनि स्थितं स्वांतमंतमुपयाति तद्बहिः।
तं विहाय सततं भ्रमत्यदः को बिभेति मरणाद्ध भूतले ॥

अर्थात्-परमात्मामें लीन हुआ मन अवश्य नष्ट होता है इसीलिये वह परमात्माको छोड़कर जहां तहां बाह्य पदार्थोंमें भटकता फिरता है। ठीक भी है संसारमें मरणका किसे भय नहि होता ?

तथा यह बात निश्चित है कि जिसका मन शुद्ध आत्मस्वरूपमें विलीन हो जाता है उसकी आत्मामें अनुपम चिदानंद छटकने लगता है और मनके विलीन हो जानेपर संकल्प विकल्प नष्ट हो जाते हैं इसलिये उससमय अद्वैतस्वरूप ही प्रकाश दृष्टिगोचर हो निकलता है। कहा भी है-

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रं।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥

अर्थात्-समस्त परद्रव्य और पर्यायोंसे रहित विशुद्ध आत्मस्वरूपके अनुभव होनेपर द्रव्यार्थिक आदि नयोंका उदय नहिं होता। प्रत्यक्ष परोक्ष आदि प्रमाण नष्ट हो जाते हैं नाम स्थापना आदि निक्षेपोंका समुदाय न मालूम कहां लापता हो जाता है और

न्य (निर्देश स्वामित्व आदि) की क्या कहैं उससमय द्वैत ही नहीं मालूम होता-अ-
द्वैत केवल चैतन्यचमत्कारस्वरूप आत्मा ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है ॥ ८४ ॥

उव्वासिए मणगेहे णट्ठे णीसेसकरणवावारे ।
विप्फुरिए ससहावे अप्पा परमप्पओ हवई ॥ ८५ ॥

उद्वसिते मनोगेहे नष्टे निश्शेषकरणव्यापारे ।
विस्फुरितस्वसद्भावे आत्मा परमात्मा भवति ॥ ८५ ॥

अर्थ इंद्रियोंके विषयोंसे मनके पराङ्मुख हो जानेपर और समस्त इंद्रिय व्यापारोंके नष्ट हो जानेपर जिससमय स्वस्वभाव स्फुरायमान हो निकलता है उससमय जीवात्मा परमात्मा बन जाता है। भावार्थ- बहुतसे मनुष्योंका यह सिद्धांत है कि-परमात्मा-ईश्वर पदार्थ भिन्न है उसी की अज्ञानुसार जीवोंको सुख दुःख भोगना पड़ता है और यह आत्मा परमात्मा नहिं हो सकता परन्तु जैनसिद्धांत इस बातको स्वीकार नहिं करता उसका यह अभिमत है कि समस्त कर्मोंके नाश हो जानेपर जिससमय आत्माके आत्मिक सम्यग्दर्शन आदि गुण स्फुरायमान हो निकलते हैं उससमय यह जीवात्मा ही

परमात्मा हो जाता है तथा आत्माके सम्यग्दर्शन आदि आत्मिक गुण उसीसमय स्फुरायमान होते हैं जिससमय समस्त स्पर्शन आदि इंद्रियोंके व्यापार नष्ट हो जाते हैं और इद्रियोंके व्यापार उसीसमय नष्ट होते हैं जब कि मन इंद्रियविषयोंकी ओर नहि झुकता-सदा पराङ्मुख रहता है इसलिये जो महानुभाव इसबातके अभिलाषी हैं कि हमारी आत्मा परमात्मा बन जाय उन्हें चाहिये कि वे मनको इंद्रियविषयोंसे विमुख रक्खें जिससे इद्रियोंके व्यापार नष्ट हो जांय और उनके नाशसे आत्माके सम्यग्दर्शन आदि आत्मिक गुण प्रकाशमान हो निकलें। आत्मा परमात्मा हो जाता है इसमें प्रमाण भी है-

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा।
मथित्वात्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरु ॥

अर्थात्-जिसप्रकार वृक्ष स्वयं घिसकर अग्निस्वरूप परिणत हो जाता है उसीप्रकार आत्मा भी स्वयं अपनी उपासनाकर परमात्मा बन जाता है अन्य कोई उसे परमात्मा नहिं बनाता।

हरएक मनुष्यकी यह सामर्थ्य नहीं कि वह इद्रियोंके व्यापारको नष्ट कर सकै और

आत्मिक गुणोंकी संपत्तिको प्राप्त करसके क्योंकि यह अनुभवसिद्ध है कि अज्ञानी व-हिरात्मा इंद्रिय व्यापारोंको नष्ट न कर उन्हींमें लिप्त रहता है जैसा कि कहा है—

न तदस्तींद्रियार्थेषु यत्क्षेमंकरमात्मनः ।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात् ॥

अर्थात्–इंद्रियविषयोंमें रमण करनेसे यद्यपि कुछ कल्याण प्राप्त नहिं हो सकता तौ भी मूर्ख मनुष्य अज्ञानके माहात्म्यसे सदा उनमें रमण करता रहता है और आनंद मानता है।

परंतु हां जो मनुष्य इंद्रियोंको वश करलेता है उसे परमतत्त्वकी प्राप्ति होती है। कहा भी है—

संहृतेषु स्वमनोगजेषु यद्भाति तत्त्वममलात्मनः परं ।
तद्गतं परमनिस्तरंगतामग्निरुग्र इह जन्मकानने ॥

अर्थात्–इंद्रिय और मनरूपी हाथियोंके वश करनेपर जो आत्माका परम-विशुद्ध स्वरूप स्फुरायमान होता है वह किसी बाह्य उपाधिसे चल विचल नहिं होता उस-समय वह वनमें लगी हुई अग्निके समान संसारको सर्वथा नष्ट करदेता है ॥ ८५ ॥

इय एरिसम्मि सुण्णे झाणे झाणिस्स वट्टमाणस्स ।
चिरबद्धाण विणासो हवइ सकम्माण सव्वाणं ॥ ८६ ॥

इत्येतादृशे शून्ये ध्याने ध्यानिनो वर्तमानस्य ।
चिरबद्धाना विनाशो भवति स्वकर्मणा सर्वेषा ॥ ८६ ॥

अर्थ- ऊपर जो शून्य ध्यानका स्वरूप बतलाया गया है जो योगी उस शून्य ध्यानमें सदा विद्यमान रहता है-उसका आराधन करता रहता है उसके चिरकालसे संचित भी कर्म सर्वथा नष्ट हो जाते हैं किसी भी कर्मका आस्रव और बंध नहिं होता। भावार्थ-यह नियम है कि जबतक समस्त कर्मोंका नाश नहिं होता तबतक कभी भी अनुपम अव्याबाधमय सुख नहि मिलता और जबतक शून्य ध्यान-निर्विकल्पक समाधिका अवलंबन नहिं किया जाता तबतक समस्त कर्मोंका नाश होना असंभव है। जो योगी अव्याबाधमय सुखकी अभिलाषासे समस्त कर्मोंका नाश करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे सदा शून्यध्यानका आराधन करते रहैं। शून्यध्यानकी प्रशंसामें कहा है-

चित्तमत्तकरिणा न चेद्धतो दुष्टबोधवनवह्निनाऽथवा ।

योगकल्पतरुरेष निश्चितं वांछितं फलति मोक्षसत्फलं ॥

अर्थात्-यदि यह निर्विकल्पक समाधिरूपी कल्पवृक्ष चित्तरूपी मदोन्मत्त हाथीसे नष्ट न किया जाय और दुष्ट ज्ञानरूपी अग्निसे न जलाया जाय तो इसमें कोई संदेह नहीं यह मोक्षरूपी वांछित और सर्वोत्तम फलको प्रदान करता है ।

णीसेसकम्मणासे पयडेइ अणंतणाणचउखंधं ।
अण्णेवि गुणा य तहा झाणस्स ण दुल्लहं किंपि ॥ ८७ ॥

निश्शेषकर्मनाशे प्रकटयत्यनतज्ञानचतु:स्कंधं ।
अन्येऽपि गुणाश्च तथा ध्यानस्य न दुर्लभं किंचिदपि ॥ ८७ ॥

अर्थ-समस्त ज्ञानावरण आदि कर्मोंके नष्ट हो जानेपर अनंत विज्ञान अनंत वीर्य अनंतसौख्य और अनतदर्शनरूप अनंत चतुष्टयका उदय हो जाता है और अन्य सूक्ष्मत्व अव्याबाध आदि गुण भी प्रकट हो जाते हैं क्योंकि ध्यानकेलिये कोई पदार्थ दुर्लभ नहीं । भावार्थ-ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय मोहनीय आयु नाम गोत्र और अंतराय ये कर्मोंके आठ भेद हैं। जिससमय इन समस्त कर्मोंका नाश होजाता है उ-

ससमय जीवात्मा परमात्मा बन जाता है और उसके अनंतविज्ञान आदि गुण प्रकट हो जाते हैं। अर्थात् ज्ञानावरण कर्मके सर्वथा क्षयसे अनंत विज्ञान, दर्शनावरण कर्मके सर्वथा क्षयसे अनंतदर्शन, मोहनीय कर्मके सर्वथा क्षयसे निराकुलतामय सुख, अंतराय कर्मके क्षयसे अनंतवीर्य, वेदनीयके क्षयसे अव्याबाधमय सुख। आयुकर्मके क्षयसे अवगाहनत्व, नाम कर्मके क्षयसे सूक्ष्मत्व और गोत्रकर्मके सर्वथा क्षयसे अगुरुलघुत्व गुण प्रकट होता है। कहा भी है—

> दृग्बोधौ परमौ तदावृतिहतेः सौख्यं च मोहक्षयात्
> वीर्यं विघ्नविघाततोऽप्रतिहतं मूर्तिर्न नामक्षतेः।
> आयुर्नाशवशान्न जन्ममरणे गोत्रेण गोत्रं विना
> सिद्धानां न च वेदनीयविरहाद् दुःख सुखं चाक्षयं॥

अर्थात् दर्शनावरण और ज्ञानावरण कर्मोंके सर्वथा क्षयसे अनंतदर्शन अनंतज्ञान प्रकट होते हैं मोहनीयकर्मके क्षयसे निराकुलतामय सुख, अंतरायकर्मके क्षयसे अनंतवीर्य, नामकर्मके सर्वथा क्षयसे सूक्ष्मत्व, आयुकर्मके अभावसे जन्म मरणका अभाव-अवगाहनत्व, गोत्रकर्मके क्षयसे गोत्रका अभाव अगुरुलघुत्व, और वेदनीय कर्मके अ-

भावसे दुःखका अभाव अव्याबाधमय सुखरूप गुण सिद्धोंके प्रकट होते हैं और भी कहा है---

यैर्दुःखानि समाप्नुवंति विधिवज्जानंति पश्यंति नो
वीर्यं नैव निज भजंत्यसुभृतो नित्यं स्थिताः संसृतौ ।
कर्माणि प्रहतानि तानि महता योगेन यैस्ते सदा
सिद्धानंतचतुष्टयामृतसरिन्नाथा भवेयुर्न किं ॥

अर्थात्-संसारमें स्थित प्राणिगण जिन कर्मोंके द्वारा नाना प्रकारके दुःखोंको प्राप्त होते हैं पदार्थोंके वास्तविक स्वरूपको न जान ही सकते हैं न देख ही सकते हैं और अपनी सामर्थ्यको भी प्राप्त नहिं करसकते वे कर्म जिन महानुभावोंने अपने प्रचंड ध्यानके द्वारा सर्वथा नष्ट करदिये हैं वे अवश्य सिद्धोंकी अनतचतुष्टयरूप नदीके स्वामी बनते हैं अर्थात् कर्मोंके नाश करनेवाले महाशयोंको अवश्य अनंतविज्ञान आदि गुणोंकी प्राप्ति होती है। इसलिये यह बात निश्चित है कि ध्यानके अंदर अवश्य यह सामर्थ्य है कि वह समस्त कर्मोंको नाशकर अनंतविज्ञान आदि गुणोंकी प्राप्ति करा सकता है अतः विद्वानोंको अवश्य ध्यानका अवलबन करना चाहिये ॥ ८७ ॥

जाणइ पस्सइ सव्वं लोयालोयं च दव्वगुणजुत्तं ।
एयसमयस्स मज्झे सिद्धो सुद्धो सहावत्थो ॥ ८८ ॥

जानाति पश्यति सर्वं लोकालोकं च द्रव्यगुणयुक्तं ।
एकसमयस्य मध्ये सिद्धः शुद्धः स्वभावस्थः ॥ ८८ ॥

अर्थ-शुद्ध और स्वस्वभावमें लीन सिद्ध परमेष्ठी एक ही समयमें सर्वद्रव्य और उनके गुण पर्यायोंसे युक्त समस्त लोक और अलोकको एक साथ देखते जानते हैं। भावार्थ-- जिसमें जीव आदि पदार्थ दीखे उसे लोक और जहांपर सिवाय आकाशके अन्य कोई भी द्रव्य दृष्टिगोचर न हो उसे अलोकाकाश कहते हैं। भगवान सिद्ध परमेष्ठी ज्ञानावरण आदि कर्मोंसे रहित शुद्ध और स्वस्वभावमें लीन होचुके हैं इसलिये जिसप्रकार सूर्यका प्रताप और प्रकाश एकसाथ पृथ्वीपर पड़ता है उसीप्रकार भगवान परमेष्ठी समस्त लोक अलोकके पदार्थोंको सब उनकी गुण और पर्यायोंके एकसाथ जानते और देखते हैं-उन्हें लोक और अलोकके पदार्थोंके देखनेमें किसीप्रकारका आवरण नहिं होता । कहा भी है—

विश्वं पश्यति वेत्ति शर्म लभते स्वोत्पन्नमात्यंतिकं
नाशोत्पत्तियुतं तथाप्यचलकं मुक्त्यर्थिना मानसे ।
एकीभूतमिदं वसत्यविरतं संसारभारोज्झितं
शांत जीवघनं द्वितीयरहितं मुक्तात्मरूपं महः ॥

अर्थात् वह सिद्धात्मारूप तेज समस्त पदार्थोंको देखता और जानता है, आत्मिक अविनाशी सुखका अनुभव करता है । मोक्षाभिलाषी मनुष्योंके चित्तोंमें यद्यपि वह उत्पाद और विनाशशील है तथापि द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा ध्रुव अविनाशी है, सदा एक स्वरूप रहता है, संसारसंबंधी भारसे बहिर्भूत है, शांत है, चैतन्यचमत्कारस्वरूप और कर्मोंसे रहित है ॥ ८८ ॥

कालमणंतं जीवो अणुहवइ सहावसुक्खसंभूइं ।
इंदियविसयातीदं अणोवमं देहपरिमुक्को ॥ ८९ ॥

कालमनंतं जीवोऽनुभवति स्वभावसुखसंभूतिं ।
इंद्रियविषयातीतां अनुपमां देहपरिमुक्तः ॥ ८९ ॥

अर्थ—तथा वह शरीररहित सिद्ध परमेष्ठी अनंतकालपर्यंत अतींद्रिय अनुपम स्वा-

भाविक सुखका अनुभव करते हैं। भावार्थ--सिद्ध परमेष्ठी औदारिक आदि शरीर और जन्म मरण आदिकी वेदनासे रहित हो गये हैं इसलिये वे सदा स्वाभाविक अतींद्रिय अनुपम सुखमें मग्न बने रहते हैं। कहा भी है—

येषां कर्मनिदानजन्मविविधक्षुत्तृण्मुखा व्याधय-
स्तेषामन्नजलादिकौषधगणस्तच्छांतये युज्यते।
सिद्धानां तु न कर्म तत्कृतरुजो नातः किमन्नादिभि-
र्नित्यात्मोत्थसुखामृतांबुधिगतास्तृप्तास्त एव ध्रुवं।

अर्थात्--जिन मनुष्योंके कर्मसे जायमान क्षुधा प्यास आदि नानाप्रकारकी व्याधियां विद्यमान हैं उन्हें उन व्याधियोंके दूर करनेकेलिये अन्न जल आदि औषधियोंकी आवश्यकता पडती है सिद्धोंको अन्न आदिकी आवश्यकता नहीं क्योंकि उनके कर्म और उनसे उत्पन्न होनेवाली व्याधियां नहीं किंतु वे तो सदा नित्य और आत्मिक सुखरूपी अमृतसमुद्रमें सदा मग्न रहते हैं॥ ८९॥

इय एवं णाऊणं आराहउ पवयणस्स जं सारं।
आराहणचउखंधं खवओ संसारमोक्खट्ठं॥ ९०॥

इति एवं ज्ञात्वा आराधयतु प्रवचनस्य यत्सारं ।
आराधनाचतुस्कध क्षपक संसारमोक्षार्थे ॥ ९० ॥

अर्थ--इसप्रकार उपर्युक्त चारो प्रकारकी आराधना ही समस्त आगमका सार हैं ऐसा जानकर क्षपकको चाहिये कि वह संसारके नाशार्थ उनका अवश्य आराधन करै। भावार्थ--यह संसाररूपी समुद्र भांति भांतिसे दुःखरूप जलसे परिपूर्ण, दुर्गतिरूपी बड़वानलसे व्याप्त, क्रोधरूपी वृक्षोंसे युक्त पुलिनोंका धारक अहंकाररूपी नाके और मगरोंके समूहसे भयंकर, मायारूपी मछलियोंसे विशिष्ट और लोभरूपी बालूका धारक है तथा ऊपर जो ज्ञान दर्शन चारित्र और तप चार प्रकारकी आराधनारूप जहाज है उसके अवलंबनसे यह तिरा जाता है इसलिये आराधनाओंको सबका सार बतलाया है अतः क्षपकको चाहिये कि वह संसारके नाशमें आगमकी सारभूत चारो आराधनाओंको कारण जानकर अवश्य उनका आराधन करै ॥ ९० ॥

धण्णा ते भयवंता अवसाणे सव्वसंगपरिचाए ।
काऊण उत्तमट्ठं सुसाहियं णाणवंतेहिं ॥ ९१ ॥

धन्यास्ते भगवंत अवसाने सर्वसंगपरित्यागे ।
कृत्वा उत्तमार्थं सुसाधितं ज्ञानवाद्धि ॥ ९१ ॥

अर्थ– वे ज्ञानके भंडार भगवान धन्य हैं जिन्होंने अपने जीवनमें समस्तप्रकारके परिग्रहका त्यागकर उत्तम पदार्थ मोक्षको साधा । भावार्थ- जो मनुष्य विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव परमात्माके ज्ञानसे संपन्न हैं ऐसे विरले ही हैं आत्मप्रबोधमें भी कहा है--

विद्यंते कति नात्मबोधविमुखा संदेहिनो देहिनः
प्राप्यंते कतिचित्कदाचन पुनर्जिज्ञासमाना क्वचित् ।
आत्मज्ञा. परमात्ममोदसुखिन. प्रोन्मीलदंतर्दृशो-
द्विना: स्युर्बहवो यदि त्रिचतुरास्ते पंचषा दुर्लभा' ॥

अर्थात् इस संसारमें प्रायः सब जीव आत्मबोधसे विमुख हैं यदि कोई कदाचित् आत्माको जानते भी हैं तो वे आत्मा क्या है ? किसे आत्मा कहते हैं ? इसी संदेहमें उझल रहे हैं इसलिये उनको भी यह स्पष्ट ज्ञान नहीं कि वास्तविक आत्मा क्या पदार्थ है ? परंतु जो वास्तविक आत्माके स्वरूपके जानकार हैं आत्मज्ञानसे उत्पन्न हुये प्रमोदसे हर्षायमान हैं और जिनकी दृष्टि बाह्य पदार्थोंसे सर्वथा हटकर निज आ-

त्माकी ओर झुक गई है ऐसे महानुभाव एक दो ही हैं और बहुत हैं तो तीन चार हैं पांच या छै तो मिलने अत्यंत दुर्लभ हैं।

इसलिये जिन विशुद्ध बोधके धारक महात्माओंने बाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्यागकर मोक्ष पदार्थको साध लिया है वे धन्य हैं।

परिग्रहका छूटना अत्यंत कठिन है इसलिये निम्नलिखित उपायोंसे उसका त्याग करना चाहिये——

स्नेहं वैरं संघं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः।
स्वजनं परिजनमपि च क्षांत्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः॥
आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजं।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निश्शेषं॥

अर्थात्–राग द्वेष संघ परिग्रह स्वजन और परिजनोंको सर्वथा छोडकर शुद्ध मन हो उन्हें क्षमा करै और स्वयं भी प्रिय वचनोंमें क्षमा करावे। तथा कृत कारित और अनुमोदनासे संचित समस्तकर्मोंकी विना छलके आलोचना कर मरणपर्यंत समस्त महाव्रतोंको धारण करै। तथा कर्मोंकी आलोचना इसप्रकार करनी चाहिये–

कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचःकायैः।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलंबे ॥
मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥
मोहविलासविजृंभितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥
प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥
समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिकं शुद्धनयावलंबी ।
विलीनमोहो रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलंबे ॥
विगलंतु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमंतरेणैव ।
संचेतयेहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानं ॥

अर्थात्-मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनसे जो मैंने तीनों कालोंमें कर्म उपार्जन किये हैं उन समस्त कर्मोंका त्यागकर मै अत्र परम निष्कर्म अवस्थाका

अवलंबन करता हूं। मोहसे जो कुछ भी मैंने भूतकालमें कर्म किये हैं उन सबका प्रत्याख्यान-त्यागकर मैं चैतन्य स्वरूप और निश्चल अपनी आत्मामें स्थिति करता हूं। मोहके विलाससे उदित और वृद्धिको प्राप्त वर्तमान कालके समस्त कर्मोंकी आलोचनाकर चैतन्यस्वरूप निश्चल मैं अपनी आत्मामें स्थिति करता हूं। मोहसे सर्वथा रहित होकर भविष्यत्-आगे उदयमें आनेवाले कर्मोंका प्रत्याख्यान- त्यागकर चैतन्यस्वरूप निश्चल आत्मामें सदा स्थिति करता हू। इसप्रकार तीनों कालोंके समस्त कर्मोंको नष्टकर परम शुद्धनयका अवलंबन करनेवाला मोह और उसके विकारोंसे रहित मैं चैतन्यस्वरूप आत्माका अवलंबन करता हूं। अंतमें विना फल दिये मेरे कर्मरूपी विषवृक्षके फल नष्ट होजांय इस कामनासे मैं निश्चल चैतन्यस्वरूप आत्माका ध्यान करता हूं। तथा इस आलोचनाके पीछे—

> शोकं भयमवसादं क्लेशं कालुष्यमरतिमपि हित्वा।
> सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः ॥
> आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्धयेत्पानम्।
> स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः ॥

खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या।
पंचनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन ॥

अर्थात्-शोक भय खेद क्लेश कालिमा और अरतिका सर्वथा त्यागकर और आत्मिक उत्साहको प्रगटकर शास्त्ररूपी अमृतसे मन प्रसन्न रखना चाहिये। तथा आहारका त्यागकर स्निग्ध दूध आदि पान करना चाहिये और पीछे स्निग्ध पानको भी छोडकर छाछ पान करना चाहिये। तथा खरपानका भी त्यागकर शक्तिपूर्वक उपवास कर पंचनमस्कार मंत्रमें लीन हो बडे यत्नसे शरीरका त्याग करना चाहिये।

विद्वानोंको चाहिये कि इस उपायसे अवश्य उत्तम गतिको सिद्ध करें ॥ ९१ ॥ जिससमय क्षपक तीव्र वेदनासे युक्त जान पडे उससमय उसे इसरीतिसे उत्साहित करना चाहिये—

धण्णोसि तुमं सुज्जस लहिऊणं माणसं भवं सारं।
कयसंजमेण लद्ध सण्णासे उत्तमं मरणं ॥ ९२ ॥

धन्योऽसि त्वं सयशो लब्ध्वा मानुष भवं सारं।

कृतसंयमेन लब्धं सन्यासे उत्तमं मरणं ॥ ९२ ॥

अर्थ—चंद्रमाके समान पवित्र कीर्तिके धारक क्षपक ! तू धन्य है क्योंकि सबोंमें सार मनुष्य भव प्राप्तकर तूने संयमपूर्वक उत्तम सन्यास मरण प्राप्त किया-तेरा शरीर सन्यास मरणसे छूट रहा है । भावार्थ—मन बडा चंचल है जरासे दुःख आजानेपर ही यह चंचल हो उठता है इसलिये ग्रंथकारकी शिक्षा है कि जिससमय क्षपक तीव्र वेदनासे युक्त जान पडे उससमय उसे इसरूपसे उत्साहित करना चाहिये कि हे क्षपक ! तू ही संसारमें धन्य है और प्रशंसाके योग्य है क्योंकि संयमको आराधकर सन्यासपूर्वक मरण करना उत्तम तप है । सो तूने उत्तम मनुष्यभव पाकर और संयमको आराधनकर सन्यासके आलंबनसे उत्तम मरण पाया है । ठीक भी है जो पुरुष आत्माराधनपूर्वक तप तपता है वह अति उत्तम गिना जाता है । क्योंकि—

लब्ध्वा जन्म कुले शुचौ वरवपुर्बुध्वा श्रुतं पुण्यतो-
वैराग्यं च करोति यः शुचि तपो लोके स एकः कृती ।
तेनैवोज्झितगौरवेण यदि वा ध्यानं समापीयते
प्रासादे कलशस्तदा मणिमयैर्हैमैस्तदारोपितः ॥

अर्थात्-पवित्र कुलमें जन्म और मनोज्ञ शरीर पाकर एवं शास्त्रके रहस्यको जानकर जो पुरुष वैराग्य धारण करता है और पवित्र तप तपता है वह मनुष्य संसारमें एक ही पुण्यवान गिना जाता है तथा यदि वही पुरुष अपने बड़प्पनका कुछ भी खयाल न कर ध्यानका अवलंबन करता है तो समझना चाहिये उसने मनोज्ञ प्रासादके ऊपर मणिजडित सुवर्णमयी कलशोंका आरोपण कर दिया अर्थात् उसकी बराबर कोई भी अन्य पुरुष भाग्यशाली नहीं। इसलिये आत्माराधनपूर्वक सन्यासमरण आदि तपोंका विद्वानोंको अवलंबन करना चाहिये ॥ ९३ ॥ क्षपकको शारीरिक और मानसिक दुःख अवश्य होता है यह अब बतलाते हैं-

किसिए तणुसंघाए चिट्ठारहियस्स विगयधामस्स।
खवयस्स हवइ दुःखं तक्काले कायमणुहूयं ॥ ९३ ॥

कृषिते तनुसघाते चेष्टारहितस्य विगतधाम्नः।
क्षपकस्य भवति दुःख तत्काले कायमन उद्भूत ॥ ९३ ॥

अर्थ-उपवास वा तीव्रवेदनाके कारण जिससमय शरीर कृश होजाता है उससमय

चेष्टारहित और निर्बल क्षपकको अवश्य शारीरिक और मानसिक दुःख भोगना पड़ता है। भावार्थ–शिर कान नेत्र आदिमें तीव्रवेदना वा ज्वरके आवेशसे शरीर जलना आदि शारीरिक दुःख और यह घर मेरा है स्त्री भाई लक्ष्मी आदि मेरे हैं इसप्रकारके संकल्प विकल्प मानसिक दुःख हैं। जिससमय उपवास वा तीव्र वेदनाके कारण क्षपकका शरीर कृश होजाता है उससमय उसे शारीरिक मानसिक दोनों प्रकारके दुःख सताने लगते हैं क्योंकि उससमय वह क्षपक शक्तिहीन हो जाता है और शरीरकी निर्बलताके कारण हलन चलन आदि चेष्टा भी उसकी नष्ट हो जाती हैं इसलिये क्षपकको चाहिये कि वह विशुद्ध परमात्माकी भावनासे वचन मन काय आदि कर्मोंको भिन्न मानें जिससे उसे दुःख न मालूम पडे। कहा भी है–

कर्मभिन्नमनिशं स्वतोऽखिलं पश्यतो विशदबोधचक्षुषा।
तत्कृतेऽपि परमार्थवेदिनो योगिनो न सुखदुःखकल्पना॥

अर्थात् जो योगी परमार्थवेदी है-विशुद्ध परमात्मस्वरूपका पूर्ण जानकार है उसे चाहिये कि वह अपने विशुद्ध ज्ञानरूपी चक्षुसे समस्तकर्मोंको सदा भिन्न देखे क्योंकि वैसा करनेपर उसके सुख दुःखकी कल्पना नहिं उठती। कर्म और आत्माके भेदवि-

ज्ञानसे शारीरिक मानसिक किसी प्रकारका उसे दुःख नहिं सहना पड़ता ॥ ९३ ॥ क-
ठिन स्थानपर सोनेसे यदि किसीप्रकारका दुःख मालूम पड़े तो उसे समभावोंसे सहन
करलेना चाहिये यह बतलाते हैं–

जइ उप्पज्जइ दु:खं कक्कसंथारगहणदोसेण ।
खीणसरीरस्स तुमं सहतं समभावसंजुत्तो ॥ ९४ ॥

यद्युपत्यत दु:ख कर्कशसंस्तरग्रहणदोषेण ।
क्षीणशरीरस्य त्वं सहस्व समभावसंयुक्त. ॥ ९४ ॥

अर्थ–क्षीणशरीरके धारक क्षपकको यदि सोनेके स्थानकी कठोरतासे यदि किसी-
प्रकारका क्लेश उत्पन्न हो तो उसे समभावोंसे सहन करलेना चाहिये । भावार्थ–सर्प
हार मित्र शत्रु तृण स्त्रियोंके समूहमें समानभाव रखना-उन्हें एकसा मानना समभा-
वना है । जिससमय क्षुधा तृषा आदिकी तीव्र वेदनासे अत्यंत क्षीण शरीरके धारक
क्षपकको कठिन शिलापर सोनसे किसीप्रकारका दुःख मालूम पड़े-उसका शरीर कठिन
स्थानके दुःखको न सहसकै तो उसे चाहिये कि उससमय वह समभावनासे उसे स-

हले-दुःखसे मयमीत हो अपने कार्यसे विचलित न होवे क्योंकि जो मुनि शत्रु मित्र आदिमें समभावना रखता है उसे अवश्य परमात्मस्वरूपकी प्राप्ति होती है। कहामी है-

एकस्यापि ममत्वमात्मवपुषः स्यात्संसृतेः कारणं
का बाह्यार्थकथा प्रथीयसि तपस्याराध्यमानेऽपि च।
तद्वास्यां हरिचंदनेऽपि च समः संश्लिष्टोऽप्यंगतो-
भिन्नं स्वं स्वयमेकमात्मनि धृतं पश्यत्यजस्रं मुहुः।

अर्थात्-प्रसिद्ध और सर्वोत्तम तपके आराधन करनेपर भी जब अकेले अपने शरीरका ही ममत्व संसारका कारण हो जाता है केवल अपने शरीरमें ममत्व रखनेसे ही संसारमें घूमना पड़ता है तब न मालूम बाह्यार्थ-स्त्री पुत्र आदि पदार्थोंकी कथासे-उनमें रागद्वेष आदि करनेसे क्या हानि न होगी ? इसलिये जो मुनि कुल्हाड़ी और चंदन समान मानते हैं-कुल्हाड़ीको बुरा और चदनको भला नहिं मानते वे शरीरसे युक्त रहनेपर भी स्वयं कर्मोंसे भिन्न अपनेको अपनेमें स्पष्टरूपसे देख लेते हैं। आत्मस्वरूपके ज्ञानी निर्ग्रंथ तो अवश्य ही समभावना भाते हैं यह-बतलाते हैं-

तृणं वा रत्नं वा रिपुरथ परं मित्रमथ वा
सुखं वा दुःखं वा पितृवनमहो सौधमथ वा।

स्तुतिर्वा निंदा वा मरणमथवा जीवितमथ
स्फुटं निर्ग्रंथानां द्वयमपि समं शांतमनसां ॥

अर्थात्-जो निर्ग्रंथ शांत चित्तके धारक हैं उनके तृण रत्न, शत्रु मित्र, सुख दुःख, मसानभूमि महल, स्तुति निंदा, मरना और जीना समान हैं अर्थात् तृण शत्रु आदिको वे बुरा नहिं कहते और रत्न मित्र आदिको अच्छा नहिं मानते । इसलिये विद्वान मुनियोंको चाहिये कि वे अवश्य ममताका अवलंबन करें ॥ ९४ ॥ हे क्षपक ! परीषहोंको सहन करता हुआ यदि तू विस्तर पर पड़ा रहैगा तो आत्मध्यानमें लीन होनेके कारण तेरे कर्मोंकी निर्जरा होगी यह बतलाते हैं-

तं सुगहियसण्णासे जावक्कालं तु वससि संथारे ।
तण्हाइदुक्खतत्तो णियकम्मं ताव णिज्जरासि ॥ ९५ ॥

त्वं सुगृहीतसन्यासो यावत्काल तु वससि सस्तरे ।
तृष्णादिदु खतप्तो निजकर्म तावन्निर्जरयासि ॥ ९५ ॥

अर्थ-हे क्षपक ! तृष्णा आदिसे संतप्त भी जब तक तू संन्यस्त-सन्यासयुक्त रहैगा तबतक अवश्य तेरे कर्मोंकी निर्जरा होती रहैगी । भावार्थ-सन्यासमरणके

समय क्षुधा प्यास आदिकी तीव्र वेदना आकर उपस्थित हो जाती है और उससमय
तीव्र वेदनाके न सहसकनेके कारण चित्त चंचल हो उठता है इसलिये क्षपकको उत्मा-
हित करनेकेलिये ग्रंथकार उपदेश देते हैं कि हे क्षपक ! यद्यपि सन्यासमरणके समय
क्षुधा तृषा आदिकी तीव्र वेदना भोगनी पडती है परंतु उस वेदनासे संतप्त होनेपर
भी जबतक तू सन्यासमें दृढ होकर विस्तरपर पडा रहेगा और आत्मध्यानमें लीन
बना रहेगा तबतक अवश्य तेरे कर्मोंकी निर्जरा होती रहेगी क्योंकि आत्मज्ञानी
मनुष्यके बहुत जल्दी कर्मोंकी निर्जरा होती है जैसा कि कहा है—

अज्ञो यद्भवकोटिभिः क्षपयति स्वंकर्म तस्माद्बहु-
स्वीकुर्वन् कृतसंवरः स्थिरमना ज्ञानी तु तत्तत्क्षणात् ।
तीक्ष्णाङ्कुशहयाश्रितोऽपि हि परं नेष्टं तपःस्यंदनः
नीयंतं नयति प्रभुं स्फुटतरज्ञानैकसूतोज्झितः ॥

अर्थात्—जो पुरुष अज्ञानी है वह वर्तमान कालमें अपनी आत्मासे संबद्ध कर्मोंको
भी करोडों भवोंमें नष्ट कर सकता है किंतु संवर और निश्चल चित्तका धारक ज्ञान-
वान मनुष्य अज्ञानीके कर्मोंसे भी अधिक कर्मोंको क्षणभरमें नष्ट कर सकता है क्यों-

कि अपने स्वामीको इष्ट स्थानपर लेजानेवाला तपरूपी रथ तीक्ष्ण क्लेसरूपी घोडोंसे युक्त रहनेपर भी यदि विशद ज्ञानरूपी सारथिसे रहित है तो वह कभी भी अपने स्वामीको इष्ट स्थानपर नहिं पहुचा सकता अर्थात्–तीव्र तपको तपनेवाला पुरुष यदि अज्ञानी है तो वह कभी भी अपनी आत्माको कर्मोंसे रहित विशुद्ध नहिं बना सकता। इसलिये जो पुरुष कर्मोंकी निर्जरा करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि बिस्तरपर पडे २ यदि क्षुधा तृषा आदिका कष्ट आकर उपस्थित हो जाय तो संन्यास और आत्मध्यान-से विचलित न होवें ॥ ९५ ॥ तृष्णा आदिकी बाधा उपस्थित होजानेपर यदि क्षपक उसै समभावनासे सहलेता है तो उसके कर्मोंकी निर्जरा ही होती है यह बतलाते हैं–

जह जह पीडा जायइ भुक्खाइपरीसहेहि देहस्स।
तह तह गलंति णूणं चिरभवबद्धाइं कम्माइं ॥ ९६ ॥

यथा यथा पीडा जायते क्षुधादिपरीषहैर्देहस्य।
तथा गलति नूनं चिरभवबद्धानि कर्म्माणि ॥ ९६ ॥

अर्थ–ज्ञानवान क्षपकके जैसी जैसी क्षुधा आदि परीषहोंसे शरीरको पीडा होती

चली जाती है वैसे वैसे चिरकालसे संचित कर्म भी नष्ट होते चले जाते हैं। भावार्थ–यद्यपि ''तपसा निर्जरा च' इस आगमानुसार निर्जरामें तप कारण है और यहांपर उसमें समभावना–भेदविज्ञान कारण बतलाया है परंतु विना भेदविज्ञानके निर्जरा हो नहिं सकती इसलिये भेदविज्ञानका क्षपकको अवश्य अवलंबन करना चाहिये कहा भी है–

कर्मशुष्कतृणराशिरुन्नतोप्युद्गते शुचिसमाधिमारुतात्।
भेदबोधदहने हृदि स्थिते योगिनो झटिति भस्मसाद्भवेत् ॥

अर्थात्–जिससमय हृदयमें पवित्र समाधिरूपी पवनके द्वारा भेदविज्ञान रूपी जाज्वल्यमान अग्नि लह लहा निकलती है उससमय कर्मरूपी सूखे तृणोंका समूह बातकी बातमें जलकर नष्ट हो जाता है अर्थात् भेदविज्ञानसे कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है ॥१६॥ मैं अग्निके संसर्गसे जलके समान दुःखोंसे संतप्त हूं ऐसा क्षपकको विचारना चाहिये यह बतलाते हैं–

तत्तोहं तणुजोए दुक्खेहिं अणोवमेहिं तिव्वेहिं।
णरसुरणारयतिरिये जहा जलं अग्गिजोएण ॥ १७ ॥

तप्तोहं तनुयोगे दु खैरनुपमैस्तीव्रैः ।

नरसुरनारकतिर्यक्षु यथा जलमग्नियोगेन ॥ ९७ ॥

अर्थ- जिसप्रकार शीतल भी जल अग्निके संयोगसे संतप्त होजाता है उसीप्रकार शांतिस्वरूप भी मैं शरीरके संयोगसे मनुष्य देव नरक और तिर्यंच गतियोंमें तीव्र दुःखोंसे संतप्त होता हूं। भावार्थ—यदि वास्तविक रूपसे देखा जाय तो पानीका स्वभाव शीतल है परंतु अग्निके संबंधसे वह विकृत-उष्ण हो जाता है उसीप्रकार यदि शुद्ध निश्चयनयसे देखा जाय तो मेरा आत्मा अनंत ज्ञानरूपी अमृतसे भरी हुई बावडीमें गोता मारनेवाला और अनंत सुखस्वरूप है परंतु व्यवहारसे मुझे मनुष्य देव नारकी और तिर्यंचोंके अनुपम और घोर दुःख भोगने पडते हैं अर्थात् जिससमय मैं मनुष्य गतिमें विद्यमान रहता हूं उससमय मुझे इष्टवियोग अनिष्टसंयोग नानाप्रकारकी विपत्तियां और आधि व्याधिजन्य क्लेश भोगने पड़ते हैं। देवगतिमें इद्र आदिकी संपत्ति देख मानसिक दु ख भोगने पड़ते हैं। नरकमें असुरकुमार जातिके देवोंके द्वारा दिये गये खंड २ होकर फिर जुड जाना भयंकर दुर्गंधि सहना आदि वहांके क्षेत्रके और आपसमें लड़ने भिड़नेसे उत्पन्न हुये दुःख सहने पड़ते हैं तथा तिर्यंचगतिमें अधिक

भार ढोना पिटना छिदना आदि दुःख भोगने पड़ते हैं ऐसा क्षपकको विचारना चाहिये। तथा--

जानासि त्वं मम भवभवे यच्च यादृक् च दुःखं
जातं यस्य स्मरणमपि मे शस्त्रवन्निष्पिनष्टि।
त्वं सर्वेशः सकृप इति च त्वामुपेतोऽस्मि भक्त्या
यत्कर्तव्य तदिह विषये देव एव प्रमाणं ॥

अर्थात् हे भगवन्! भव भवमें जो कुछ और जितना दुःख जिसका कि स्मरण करना भी शस्त्रके समान पीड़ा देता है मेरे उत्पन्न हुआ है-मुझे भोगना पड़ा है उस सबको आप जानते हैं और आप सबके ईश और कृपालु हैं इसलिये मैं भक्तिभावसे तुम्हारे चरणोंमें आपड़ाहूं अब इस विषयमें जो कुछ करना हो आप करैं क्योंकि आप ही प्रमाण हैं-आपको ही अधिकार है जो चाहैं आप करसकते हैं।

ऐसे परम कल्याणकारी परमात्माकी शरण लेनी चाहिये ॥ ९७ ॥ क्योंकि--

ण गणेइ दुक्खमल्लं इयभावणभाविओ फुडं खवओ।
पडिवज्जइ ससहावं हवइ सुही णाणसुक्खेण ॥ ९८ ॥

भा.
२०३

न गणयति दुःखशल्यं इति भावनाभावितः स्फुटं ज्ञानी।
प्रतिपद्यते स्वस्वभावं भाति सुखी ज्ञानमौल्येन ॥ ९८ ॥

अर्थ-इसप्रकार उपर्युक्त भावनाका निर्द्वंद्व जो भावनेवाला क्षपक दुःखरूपी शल्यको नहि गिनता, स्वस्वभावको प्राप्त हो जाता है और अनंतज्ञानरूपी सुखसे सदा सुखी रहता है। भावार्थ मैं अनादिकालसे इस पंचपरावर्तनरूप संसारमें घूमरहा हूं मैंने घोरसे घोर दुःख सहे हैं इसलिये ये क्षुधा तृषा आदिके दुःख उनके सामने कुछ भी चीज नहीं। अथवा शुद्धनिश्चयनयसे मैं जन्म जरा मरण आदिसे रहित हूं इसलिये मेरी आत्माको किसीप्रकारका कष्ट नहिं हो सकता इसप्रकारकी विशुद्ध बुद्धिसे भावना भानेवाले क्षपकको क्षुधा तृषा आदिका कैसा भी दुःख नहिं सताता वह स्वस्वभावमें लीन और अनंतज्ञानरूपी सुखसे सुखी हो जाता है। कहा भी है-

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बला-
त्तन्मूलां बहुभावसंततिमिमामुद्धर्तुकामः समं।
आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद्युतं
येनोन्मीलितबंध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति ॥

अर्थात्-इसप्रकार समस्त परपदार्थोंको देखकर और उनकी विवेचनाकर जो पु-रुष परद्रव्यके संबंधमें कारणरूप रागद्वेष आदिके समुदायको समूल नष्ट करना चाहता है वह पुरुष परिपूर्ण और पुष्ट विज्ञानसे युक्त विशुद्ध आत्माको प्राप्त करलेता है क्योंकि कर्ममलोंसे रहित विशुद्ध आत्मा ही विशुद्ध आत्मामें स्फुरायमान हो सकता है अविशुद्ध विशुद्धमें नहीं इसलिये ज्ञानवान् क्षपकको चाहिये कि वह अवश्य उपर्युक्त भावना भावे ॥ ९८ ॥ क्षपकको चाहिये कि वह दुर्धर भी कर्मोंको तृणके समान मानकर अपनी आत्माकी आराधना करे यह बतलाते हैं-

भित्तूण रायदोसे छित्तूणय विसयसंभवे सुक्खे ।
अगणंतो तणुदुःखं झायस्स णिजप्पयं खवया ॥ ९९ ॥

भित्वा रागद्वेषौ छित्वा च विषयसंभवानि सुखानि ।
अगणयस्तनुदु ख ध्यायस्व निजात्मानं क्षपक ॥ ९९ ॥

अर्थ—हे क्षपक ! रागद्वेषको भेदकर विषयजन्य सुखोंको छेदकर और शरीर संबंधी दुःखको न गिनकर तू अपनी आत्माका ध्यानकर । भावार्थ—आत्मध्यानके समय

राग द्वेष, विषयजन्य सुख और शरीरके दुःखोंका अवश्य सामना करना पड़ता है परंतु विद्वानोंको इन्हें न कुछ समझकर आत्मध्यानसे विचलित न होना चाहिये क्योंकि जो पुरुष राग द्वेष संयुक्त रहता है वह निज आत्माका अनुभव नहिं कर सकता-राग द्वेषसे रहित हो निज आत्माका स्पष्ट अनुभव कर सकता है। कहा भी है-

रायद्दोसादीहिं य डहुलिज्जइ णेव जस्स मणसलिलं।
सो णियतच्चं पिच्छइ ण हु पिच्छइ तस्स विवरीओ॥

अर्थात् जिसके राग द्वेष आदि तुरंग चित्तरूपी जलको नहि खलबलाते वे ही अपने आत्मिक स्वरूपका साक्षात्कार अनुभव कर सकते हैं किंतु राग और द्वेषके द्वारा जिनका मन चंचल हो जाता है उन्हें आत्मस्वरूपका साक्षात्कार नहिं होता। तथा राग द्वेषके समान विषयजन्य सुखोंसे भी मुंह मोड़लेना चाहिये क्योंकि इंद्रियविषयोंसे विमुखता होनेपर आत्मध्यानसे ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्ति होती है जैसा कि कहा है-

थक्के मणसंकप्पे रुद्धे अक्खाण य विसयवावारे।
पयडइ बंभसरूवं अप्पा झाणेण जोईणं॥

अर्थात्-मनके संकल्प विकल्पोंसे स्थगित हो जानेपर और इंद्रियविषयोंके रुक-जानेपर आत्मध्यानसे योगियोंको ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्ति होती है।

तथा शरीर ज्वर आदि दुःख उत्पन्न होनेपर उसकी ओर ध्यान न देना चाहिये किंतु उससमय—

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
तथा बालो न वृद्धोहं युवा चैतानि पुद्गले॥

अर्थात्—मेरी मृत्यु नहीं इसलिये मुझे भय नहीं, मेरे व्याधि नहीं इसलिये मुझे दुःख नहीं तथा मै बाल वृद्ध युवा भी नहीं किंतु ये बातें पुद्गलमें होती है ऐसा प्रतिसमय विचार रखना चाहिये ॥ ९९ ॥ जबतक आत्मारूपी सुवर्ण तपरूपी अग्निसे नहिं तपाया जाता तबतक कर्मरूपी कालिमासे रहित नहिं होता यह बतलाते हैं—

जाव ण तवग्गितत्तं सदेहमूसाइ णाणपवणेण।
ताव ण चत्तकलंकं जीवसुवण्णं खु णिव्वडइ ॥ १०० ॥

यावन्न तपोग्नितप्तं स्वदेहमूषाया ज्ञानपवनेन।
तावन्न त्यक्तकलंकं जीवसुवर्णं हि निर्व्यक्तीभवति ॥ १०० ॥

अर्थ—शरीररूपी मूषामें ज्ञानरूपी पवनके द्वारा जबतक यह जीवरूपी सुवर्ण त-

परूपी अग्निसे नहिं तपाया जाता तबतक कर्मरूपी कलंकोंसे रहित जाज्वल्यमान नहिं होता। भावार्थ--यह स्पष्ट देखनेमें आता है कि जिससमय कालिमायुक्त सुवर्ण मूषामें रखकर धौंकनीकी पवनके द्वारा अग्निसे तपाया जाता है उससमय वह कीट कालिमा आदिसे रहित होकर जगमगा निकलता है उसीप्रकार यह कर्मोंसे मलिन आत्मा सम्यग्ज्ञानरूपी पवनके द्वारा तपरूपी अग्निसे तपाया जाता है उससमय कर्मकालिमासे रहित होकर यह जगमगा निकलता है इसलिये विशुद्ध आत्मस्वरूपके अभिलाषी विद्वानोंको चाहिये कि वे सम्यग्ज्ञानके धारक हो तपरूपी विशुद्ध अग्निसे अवश्य आत्माको शुद्ध बनावें। कहा भी है--

तपोभिस्ताडिता एव जीवाः शिवसुखस्पृशः।
मुसलै'खलु सिद्ध्यंति तंडुलास्ताडिता भृशं॥

अर्थात् जिसप्रकार मूसलसे वार वार छरे कुटे हुये चावल सीज जाते हैं उसीप्रकार तपके आराधन करनेवाले जीव ही मोक्षसुखके आस्वादी सिद्ध होते हैं। तथा--

तपः सर्वाक्षसारंगवशीकरणवागुरा।
कषायतापमृद्वीका कर्माजीर्णहरीतकी॥

अर्थात्-यह तप इंद्रियरूपी हरिणोंको वशकरनेकेलिये वागुरा-जाल है कषायरूपी संतापकी शांतिकेलिये अंगूर और कर्मरूपी अजीर्णके नाशकरनेकेलिये हरड है ॥१००॥

दुःख शरीरको होता है और मैं शरीर स्वरूप नहीं हूं ऐसी भावनासे समस्त दुःखोंको सहलेना चाहिये यह बतलाते हैं-

णाहं देहो ण मणो ण तेण मे अत्थि इत्थ दुक्खाइं।
समभावणाइ जुत्तो विसहसु दुक्खं अहो खवय ॥ १०१ ॥

नाहं देहो न मनो न तेन मे अस्ति अत्र दुःखानि।
समभावनया युक्तः विषहस्व दुःखमहो क्षपक ॥ १०१ ॥

अर्थ-हे क्षपक! न मैं देहस्वरूप हूं और न मनस्वरूप हूं इसलिये संसारमें मुझे कोई दुःख नहीं ऐसी समभावनासे तुझे समस्त दुःख सहलेने चाहिये। भावार्थ दुःख शरीर और मनको होता है तथा शरीर और मनको अपना माननेसे आत्माको दुःख भोगना पड़ता है परंतु जिससमय हृदयमें यह समभावना-भेदविज्ञान होजाता है कि शरीर और मन मेरे नहीं इसलिये मुझे संसारमें किसीप्रकारका दुःख भी नहिं होता उस-

समय किसीप्रकारका दुःख नहिं मालूम पड़ता। वास्तवमें मन वचन आदि, कर्मोंके विकार हैं और आत्मा चिदानंद चैतन्यस्वरूप है इसलिये वह मन वचन आदिका विषय ही नहीं हो सकता। जैसा कि कहा है—

नो विकल्परहितं चिदात्मकं वस्तु जातु मनसोऽपि गोचरं।
कर्मजाश्रितविकल्परूपिणः का कथा तु वचसो जडात्मनः॥

अर्थात्–चिदानंदचैतन्यस्वरूप आत्मा विकल्पोंसे रहित है और मन कर्मजन्य विकल्पोंसे युक्त वा स्वयं भी कर्मोंका विकार है इसलिये आत्माको विषय नहिं कर सकता तथा वचन भी जड़ स्वरूप कर्मोंका विकार है इसलिये आत्मा उसका भी विषय नहिं हो सकता। तथा--

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।
अत्यन्तसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः॥

अर्थात्--वह चिदानंद चैतन्य स्वरूप आत्मा स्वानुभव प्रत्यक्षके गम्य है शरीर-प्रमाण है अविनाशी अनंत अनुपम सुखका भंडार और समस्त लोक अलोकका देखनेवाला है इसलिये क्षपकको चाहिये कि व्यवहारनयकी अपेक्षा शरीरमें

[illegible] ॥ १०१ ॥ [illegible]

[illegible]

न य अत्थि कोवि वाही ण य मरणं अत्थि मे विसुद्धस्स ।
वाही मरणं काये तम्हा दुक्खं ण मे अत्थि ॥ १०२ ॥

[illegible] ॥ १०२ ॥

[illegible]

कोई दुःख नहीं । भावार्थ--दुःख संसारमें व्याधि और मरण आदिसे होता है और वे
पुद्गलके धर्म हैं शरीरमें होते हैं मेरी आत्मामें किसीप्रकारकी व्याधि और मरण नहिं
होते क्योंकि मैं चिदानंद चैतन्यस्वरूप परम विशुद्ध हूं इसलिये मुझै संसारमें किसी-
प्रकारका कष्ट नहीं । कहा भी है--

रुग्जरादिविकृतिर्न मेऽजसा सा तनोरहमितः सदा पृथक् ।
मेलनेऽपि सति खे विकारिता जायते न जलदैर्विकारिभिः ॥

अर्थ--रोग जरा आदि जितने विकार हैं वे मेरे नहीं निश्चयनयसे वे शरीरके हैं
और वह मुझसे सर्वथा भिन्न है तथा जिसप्रकार विकार करनेवाले मेघोंके संबंध
होनेपर भी आकाशमें किसीप्रकारका विकार नहिं होता उसीप्रकार आत्माके साथ
शरीरका संबंध होनेपर भी आत्मामें किसी प्रकारका विकार नहिं हो सकता । इस-
लिये ज्ञानवान क्षपकको चाहिये कि वह समभावनाके बलसे रोग आदिके उपस्थित
होनेपर भी किसीप्रकारका दुःख न माने ॥ १०२ ॥ कोई ऐसी शंका करै कि व्याधि
आदि धर्म यदि शरीरके हैं तो आत्मा कैसा है ? यह बतलाते हैं--

सुक्खमओ अहमेक्को सुद्धप्पा णाणदंसणसमग्गो ।

अण्णे जे परभावा ते सव्वे कम्मणा जणिया ॥ १०३ ॥

सुखमयोऽहमेकः शुद्धात्मा ज्ञानदर्शनसमग्र. ।
अन्ये ये परभावास्ते सर्वे कर्मणा जनिता. ॥ १०३ ॥

अर्थ—सुखस्वरूप एकाकी अखंड ज्ञान और दर्शनका भंडार मैं शुद्ध आत्मा हूं और ज्ञान दर्शन आदि मेरे स्वरूपसे भिन्न जितने भर पदार्थ हैं वे सब मुझसे भिन्न परपदार्थ हैं और वे कर्मोंके कार्य हैं । भावार्थ—मैं तो मोहनीय कर्मके अभावसे सुख स्वरूप हूं । राग आदिके सर्वथा नष्ट हो जानेसे एकाकी हूं, ज्ञानावरण दर्शनावरणके सर्वथा नाशसे अखंड ज्ञान दर्शनका भंडार हूं और विशुद्ध हूं । मुझसे भिन्न स्त्री पुत्र आदि जितनेभर भी पदार्थ हैं सब परपदार्थ हैं और कर्मजनित हैं इसलिये वे मेरे नहीं तथा शुद्ध निश्चयनयसे शरीरसे युक्त होनेपर भी मैं परमात्मा हूं । कहा भी है—

यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः ।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥

अर्थात्—जो परमात्मा है वही मैं हूं और जो मैं हूं वही परमात्मा है इसलिये मैं ही

अपना उपास्य हूं अन्य कोई उपास्य नहीं । ऐसा क्षपकको सदा विचार करना चाहिये क्योंकि ऐसी भावना भानेसे कर्मोंकी निर्जरा होती है । जैसा कि कहा है—

परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी ।
जायते ध्यानयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा ॥

अर्थात्–विशुद्ध आत्माके ध्यानसे जिससमय भूख प्यास आदि परीषहोंका ज्ञान नहिं होता उससमय कर्मास्रवका निरोध करनेवाली अर्थात् अविपाक निर्जरा होती है । ॥ १०३ ॥ फिर भी आत्माका स्वरूप बतलाते हैं—

णिच्चो सुक्खसहावो जरमरणविवज्जिओ सयारूवी ।
णाणी जम्मणरहिओ इक्कोहं केवलो सुद्धो ॥ १०४ ॥

नित्यः सुखस्वभावः जरामरणविवर्जित सदारूपी ।
ज्ञानी जन्मरहित एकोहं केवल. शुद्ध ॥ १०४ ॥

अर्थ–वह आत्मा नित्य है, सुखस्वभाव है, जरा मरणसे रहित है, अरूपी है, ज्ञानी है, जन्मसे रहित एक केवल और शुद्ध है । भावार्थ—यद्यपि व्यवहारनयसे

आत्मा अनित्य विनाशीक है परंतु निश्चयनयसे नित्य अविनाशी है । व्यवहार नयसे अनादि अशुभ कर्मोंके कारण कभी दुःखी और अनादि शुभ कर्मोंके कारण सुखी है परंतु शुद्ध निश्चयनयसे परमानंदस्वरूप अनंत चैतन्यका पिंड है । व्यवहार नयसे पंचभूतमय शरीरके धारण करनेके कारण जरा मरणसे युक्त है परंतु निश्चयनयसे जरा मरणसे रहित है । व्यवहार नयसे स्पर्श रस गंध वर्ण स्वरूप पुद्गलके आश्रय-से मूर्तस्वरूप है परंतु निश्चयनयसे मूर्तिरहित अरूपी है । व्यवहार नयसे मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदिसे युक्त होनेके कारण अज्ञानी है परंतु निश्चयनयसे केवलज्ञान स्वभाव होनेसे ज्ञानी है । व्यवहारनयसे चौरासी लाख योनियोंमें उत्पन्न होनेके कारण जन्म-युक्त है परंतु निश्चयनयसे यह जन्मरहित है । व्यवहारनयसे नर नारक आदि रूप-से अनेक है परंतु निश्चयनयसे टांकीसे उकीले हुयेके समान चैतन्यस्वभावसे युक्त होनेके कारण एक है । व्यवहारनयसे ज्ञानावरण आदि द्रव्योंके संबंधसे केवल नहीं परंतु निश्चयनयसे कर्मोंसे सर्वथा रहित होनेके कारण केवल है । और व्यवहारनयसे राग आदि उपाधिसे युक्त होनेके कारण अशुद्ध है परंतु निश्चयनयसे शुद्ध है । इस-लिये विद्वानोंको ऐसे ही आत्माका स्वरूप विचारना चाहिये किंतु जो सर्वथा नित्य

किंवा सर्वथा अनित्य आदि आत्माका स्वरूप बतलाया है वैसे आत्माका स्वरूप न विचारना चाहिये। अन्यत्र भी आत्माका स्वरूप बतलाया है—

नो शून्यो न जडो न भूतजनितो नो कर्तृभावं गतो-
नैको न क्षणिको न विश्वविगतो नित्यो न चैकांततः।
आत्मा कायमितिश्चिदेकनिलयः कर्ता च भोक्ता स्वयं
संयुक्तः स्थिरताविनाशजननैः प्रत्येकमेकः क्षणे ॥

अर्थात्-एकांतनयसे आत्मा न शून्य है, न जड है, न पंचभूतोंसे उत्पन्न है, न कर्ता है, न एक है, न क्षणिक है, न व्यापक है और न नित्य है किंतु शरीर-परिमाण है अखंड चैतन्यका पिंड है स्वयं कर्ता और स्वय भोक्ता है और एक ही क्षणमें उत्पाद व्यय और ध्रौव्य तीनों अवस्थायोंसे युक्त है ॥ १०४ ॥

इय भावणाइ जुत्तो अवगण्णिय देहदुःखसंघायं।
जीवो देहाउ तुम कड्ढसु खग्गुव्व कोसाओ ॥ १०५ ॥

इति भावनायुक्त अवगणय्य देहदुःखसघातं।

जीवो देहात् त्वं निष्कासय खड्गमिव कोशात् ॥ १०५ ॥

अर्थ—ग्रंथकार उपदेश देते हैं कि हे क्षपक ! उपर्युक्त भावनाके बलसे शरीरसंबंधी दुःखकी जरा भी पर्वाह न कर तू म्यानसे तलवारके समान शरीरसे जीवको जुदा करदे । भावार्थ—यद्यपि कोषमें तलवार रहती है परंतु हैं कोष और तलवार दोनों जुदे पदार्थ-कभी वे दोनों एकस्वरूप नहिं होसकते उसीप्रकार संसारावस्थामें शरीरमें आत्मा रहता है परंतु आत्मा और शरीर है दोनों भिन्न पदार्थ-कभी दोनो एक नहिं होसकते। आत्मा तथा इस शरीरकी भिन्नताका ज्ञान समभावनासे होना है इसलिये क्षपकको चाहिये कि आत्मा और शरीरके भेद जाननेकेलिये वह अवश्य इसप्रकार भावना करै—

शरीरतः कर्तुमनंतशक्तिं विभिन्नमात्मानमपास्तदोषं ।
जिनेंद्रकोषादिव खड्गयष्टिं तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः ॥

अर्थात्—हे जिनेंद्र ! आपके प्रमादसे मुझे म्यानसे तलवारके समान अनंत शक्तिके धारक निर्दोष आत्माको शरीरसे भिन्न करनेकी शक्ति प्राप्त हो ऐसी प्रर्थना है ॥१०५॥

झाणिऊण अट्टरुद्दे अप्पा परमप्पयम्मि ठविऊण ।

भावियसहाउ जीवो कड्ढसु देहाउ मलमुत्तो ॥ १०६ ॥

हत्वार्तरौद्रौ आत्मानं परमात्मनि स्थापयित्वा ।

भावितस्वभावजीव निष्कासय देहान्मलमुक्त ॥ १०६ ॥

अर्थ–ग्रंथकार कहते हैं कि भावनासे अपने आधीन किये हुये स्वभावके धारक और निष्कलंक हे क्षपक ! आर्त और रौद्रध्यानका सर्वथा त्यागकर और अपनी आत्माको परमात्मामें स्थापित कर तुझे अपनी आत्माको शरीरसे जुदा करदेना चाहिये-परमात्मा बना देना चाहिये । भावार्थ–जबतक आत्मामें आर्त और रौद्र-ध्यानोंकी सत्ता विद्यमान रहेगी और जबतक वह परमात्माके स्वरूपमें लीन न होगा तबतक कभी भी वह शरीररहित सिद्ध परमात्मा नहिं हो सकता इसलिये जो पुरुष दृढ़रूपसे समभावना भानेवाला है उसे चाहिये कि वह आर्त रौद्र दोनो ध्यानोंका सर्वथा त्यागकर दे और अपनी आत्माको परमात्मामें स्थापितकर और शरीरसे रहित कर परमात्मा बना दे । क्योंकि यह बात युक्तियुक्त है कि आर्त रौद्र ध्यानोंसे रहित होकर जिससमय परमात्माके विषयमें यह भावना हो निकलती है कि 'सोहं' अर्थात् मैं परमात्मस्वरूप हूं उससमय अवश्य आत्मा परमात्मा बन जाता है । जैसा कि कहा है—

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः।
तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मनः स्थितिं ॥

अर्थात् -जिस मनुष्यकी आत्मामें 'सोऽहं' मैं परमब्रह्म परमात्मस्वरूप हूं ऐसा सं-
स्कार विद्यमान है वह पुरुष यदि उसीकी भावना करता है और संस्कारको और भी
दृढ बनाता है तो उसे आत्माकी स्थिति अर्थात् परमात्मस्वरूपकी प्राप्ति होजाती है।१०६।
जो भव्य आराधनाओंका आराधन करते हैं वे काल आदि लब्धियोंकी कृपासे उसी
भवमें सिद्ध अवस्था प्राप्त करलेते हैं यह बतलाते हैं—

कालाई लहिऊणं छित्तूण य अट्ठकम्मसंखलयं।
केवलणाणपहाणा भविया सिज्झंति तम्हि भवे ॥ १०७ ॥

कालादिकं लब्ध्वा छित्त्वा च अष्टकर्मशृङ्खला।
केवलज्ञानप्रधाना भव्याः सिद्ध्यन्ति तस्मिन्भवे ॥ १०७ ॥

अर्थ—भव्य जीव काल आदि सामग्रीको प्राप्तकर आठो कर्मरूपी सांकलको तो-
ड़कर और केवलज्ञानसे संयुक्त होकर उसीभवमें सिद्ध-परमात्मा होजाते हैं। भावार्थ--

द्रव्य क्षेत्र काल भव भावरूप सामग्री और अष्ट कर्मोंका नाश सिद्ध अवस्थामें प्रधान कारण है अर्थात् जबतक द्रव्य क्षेत्र आदि सामग्री प्राप्त नहिं होती जबतक अष्ट कर्मोंका नाश नहिं होता और जबतक अष्टकर्मोंका नाश नहिं होता तबतक केवलज्ञानके साथ साथ सिद्धि-परमात्मस्वरूपकी प्राप्ति नहिं हो सकती इसलिये भव्योंको चाहिये कि वे उक्त सामग्रीको प्राप्तकर अष्ट कर्मोंका नाश करें और चमचमाते हुये अखंडज्ञान केवलज्ञानसे युक्त हो सिद्ध अवस्थाके अनुपम सुखका अनुभव करें। सिद्धिकी प्राप्तिमें द्रव्य आदि सामग्री प्रधान कारण है यह बात अन्यत्र भी बतलाई है—

योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णता मता।
द्रव्यादिस्वात्मसंपत्तावात्मनोप्यात्मता मता॥

अर्थात्—जिसप्रकार योग्य सामग्रीके मिलजानेसे सुवर्णका पाषाण सुवर्ण स्वरूप हो जाता है उसीप्रकार स्वद्रव्य क्षेत्र आदि उचित सामग्रीके मिलजानेपर अशुद्ध आत्मा परमात्मा बन जाता है-संसारी आत्माको मोक्षस्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है॥१०७॥आराधनाओंके आराधन करनेवाले भव्यजीव सर्वार्थसिद्धिके सुखका भी आस्वादन करते हैं यह बतलाते हैं—

आराहिऊण केई चउव्विहाराहणाइ जं सारं ।
उव्वरियसेसपुण्णा सव्वट्ठणिवासिणो हुंति ॥ १०८ ॥

आराध्य केचित् चतुर्विधाराधनाया यत्सार ।
उद्वृत्तशेषपुण्याः सर्वार्थनिवासिनो भवति ॥ १०८ ॥

अर्थ–कईएक भव्यजीव चारो प्रकारकी आराधनाओंमें जो सार परमात्मा है उसका आराधनकर कुछ पुण्य प्रकृतियोंके अवशिष्ट रहनेके कारण सर्वार्थसिद्धिके सुखका अनुभव करते है। भावार्थ–कर्मोंकी प्रकृतियां दो प्रकारकी हैं एक पुण्य दूसरी पाप जिससमय जीव मुक्त अवस्थाको प्राप्त होजाता है उससमय सब प्रकारकी प्रकृतियोंका नाश होजाता है और यदि कुछ प्रकृतियां अवशिष्ट रहजाती हैं तो सर्वार्थसिद्धिके सुखकी प्राप्ति होती है इसी आशयको लेकर ग्रंथकारने यहां यह बात बतलाई है कि कोई कोई भव्यजीव चारो प्रकारकी आराधनाओंमें सार स्वरूप परमात्माका आराधन करते हैं वे कुछ प्रकृतियोंके अवशिष्ट रहजानेपर सर्वार्थसिद्धि जाते हैं और वहांके सुखोंका आस्वादन करते हैं ॥ १०८ ॥ अब आराधनाओंके जघन्य आराधक भी कुछ भवोंके बाद मोक्ष चले जाते हैं यह बतलाते हैं–

जेसिं हुंति जहण्णा चउव्विहाराहणा हु खवयाणं ।
सत्तट्ठभवे गंतुं तेवि य पावंति णिव्वाणं ॥ १०९ ॥

येषा भवति जघन्या चतुर्विधाराधना क्षपकाणा ।
सप्ताष्टभवान् गत्वा तेऽपि च प्राप्नुवति निर्वाण ॥ १०९ ॥

अर्थ–जिन क्षपकोके चारप्रकारकी आराधनाओंका जघन्य भी आराधन होता है वे भी सात आठ भवके बाद निर्वाण धामको प्राप्त हो जाते हैं । भावार्थ–मनके चंचल होनेसे जो महानुभाव सहज शुद्ध चिदानंद चैतन्यस्वरूप आत्मा-निश्चय आराधनामें थोडी स्थिति करते हैं और दर्शन ज्ञान चारित्र तपस्वरूप व्यवहार आराधनाका भी मन वचन कायकी परिपूर्ण सामर्थ्यके अभावसे परिपूर्ण आराधन नहिं करते वे मनुष्य भी सात आठ भवोंमें निर्वाण स्थानके अनंत सुखका आस्वादन करते हैं इसलिये जघन्यरूपसे भी आराधनाओंका आराधन कार्यकारी है ॥ १०९ ॥

उत्तमदेवमणुस्से सुक्खाइं अणोवमाइं भुत्तूण ।
आराहणउवजुत्ता भविया सिज्झंति झाणट्ठा ॥ ११० ॥

भा.
२२२

उत्तमदेवमानुषे सुखान्यनुपमानि भुक्त्वा ।
आराधनोपयुक्ता भव्याः सिध्द्यति ध्यानस्था. ॥११०॥

अर्थ—जो भव्यजीव उपर्युक्त आराधनाओंके आराधन करनेवाले हैं और ध्यानशील हैं वे उत्तमदेव और उत्तम मनुष्योंके अनुपम सुखोंको भोगकर सिद्ध परमात्मा होजाते हैं। भावार्थ—संसारमें उत्तमदेव इंद्र आदि और उत्तम पुरुष चक्रवर्ती आदिके सुख भी बडी कठिनतासे प्राप्त होते हैं परंतु जो पुरुष सम्यग्दर्शन आदि आराधनाओंके आराधन करनेवाले और ध्यानशील हैं उन्हें अनायास ही उन सुखोंकी प्राप्ति हो जाती है और पश्चात् वे सिद्ध अवस्थाको प्राप्त कर लेते हैं इसलिये आराधनाओंका आराधन करना कभी निरर्थक नहिं जाता ॥ ११० ॥ अत्यंत तपस्वी रहनेपर जो मनुष्य आत्मध्यानसे बहिर्भूत है वह कभी भी मोक्षको प्राप्त नहिं होता यह बतलाते हैं—

अइ कुणउ तवं पालेउ संजमं पढउ सयलसत्थाइं ॥
जाम ण झावइ अप्पा ताम ण मोक्खो जिणो भणइ ॥१११॥

भति करोतु तपः पालयतु संयमं पठतु सकलशास्त्राणि ।
यावन्न ध्यायत्यात्मानं तावन्न मोक्षो जिनो भणति ॥१११॥

अर्थ--अत्यंत तप भी आचरण करो, ऊंचे दर्जेके संयमको भी पालो, समस्त शास्त्रोंका भी अभ्यास करो परंतु जबतक आत्माका ध्यान नहीं तबतक कभी मोक्षकी प्राप्ति नहिं हो सकती ऐसा भगवान जिनेंद्रका उपदेश है। भावार्थ--मोक्षकी प्राप्तिमें बलवान कारण आत्मध्यान--भेदविज्ञान है क्योंकि चाहैं कितना भी तप आचरण करो, घोर संयमको भी पालो और समस्त शास्त्रोंका भी पूर्णरूपसे अभ्यास करो जबतक आत्मध्यान न किया जायगा तबतक कदापि मोक्ष नहीं हो सक्ती इसलिये मोक्षकी प्राप्तिमें भेदविज्ञानको प्रधान कारण समझना चाहिये। कहा भी है--

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं सहजबोधकलासुलभं किल ।
तत इदं निजबोधकलाबलात्कलयितुं यततां सततं जगत् ॥

अर्थात्--मोक्षपद कर्मोंसे दुरासद है--कर्मोंकी सहायतासे भी प्राप्त नहिं हो सकता परंतु स्वाभाविक बोधकला--भेदविज्ञानसे वह सुलभ है इसलिये जगत्के जीवोंको चाहिये कि वे स्वाभाविक बोधकी कलासे ही मोक्षपदकी प्राप्तिकेलिये पूर्ण उद्योग करें। तथा और भी कहा है--

यो न वेत्ति परं देहे देवमात्मानमव्ययं। लभते न स निर्वाणं तप्त्वापि परमं तपः ॥

अर्थात् जो महानुभाव शरीरमें उत्कृष्ट अविनाशी देव परमात्माको नहि जानता वह घोर तप तपकर भी कभी मोक्षको प्राप्त नहिं हो सकता ॥ १११ ॥

चइऊण सव्वसंगं लिंगं धरिऊण जिणवरिंदाणं।
अप्पाणं झाऊणं भविया सिज्झंति णियमेण ॥११२॥

त्यक्त्वा सर्वसंग लिंगं धृत्वा जिनवरेंद्राणा।
आत्मानं ध्यात्वा भव्या सिद्ध्यति नियमेन ॥ ११२ ॥

अर्थ—जो भव्यजीव बाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रहोंका सर्वथा त्याग कर देते हैं और भगवान जिनेंद्र द्वारा उपदिष्ट निर्ग्रंथ आदि लिंगोंको धारणकर विशुद्ध आत्माका ध्यान करते हैं उन्हें अवश्य मोक्षकी प्राप्ति होती है। भावार्थ—

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदं। आसनं शयनं कुप्यं भांडं चेति बहिर्दश ॥

अर्थात्—क्षेत्र वस्तु धन धान्य दासी दास चौपाये आसन शय्या कुप्य और भांड ये दशप्रकारके बाह्य परिग्रह हैं और—

मिथ्यात्ववेदरागा हासप्रमुखास्तथा च षड् दोषाः। चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यंतरा ग्रंथाः ॥

अर्थात् मिथ्यात्व वेद राग द्वेष हास्य रति अरति भय जुगुप्सा शोक और क्रोध मान

माया लोभ ये चौदह अभ्यतर परिग्रह हैं। मोक्षप्राप्तिके लिये इन दोनोंप्रकारके परि-
ग्रहोंका त्याग कर देना चाहिये । तथा भगवान जिनेंद्रने जिन निर्ग्रंथ आदि लिंगों-
का उपदेश दिया है यथाशक्ति वे लिंग भी धारण करने चाहिये । कदाचित यहां
यह शंका हो कि पहिले मोक्षकी प्राप्तिमें लिंगकी कारणताका तो निषेध कर आये हैं
अन्यत्र भी यही कहा है–

लिंगं देहाश्रितं दृष्टं देह एव आत्मनो भवः । न मुच्यंते भवात्तस्माद्ये ते लिंगकृताग्रहाः ॥

अर्थात्–लिंग शरीरके आश्रित है और शरीरमें ही आत्माकी विद्यमानता है
इसलिये जिन पुरुषोंका यह हठ है कि लिंगसे मोक्ष होती है वे कर्मोंसे नहिं छूट
सक्ते–कभी उन्हें मोक्षकी प्राप्ति नहिं हो सकती । परंतु यहांपर उसे कारण बतलाया
है इसलिये वचनोंमें पूर्वापरविरोध आता है ? सो नहीं । व्यवहारसे जिनलिंगको भी
मोक्षकी प्राप्तिमें कारण बतलाया है क्योंकि विना जिनलिंगके मोक्षकी प्राप्ति नहिं हो
सकती अतः मोक्षकेलिये जिनलिंग भी धारण करना परम आवश्यक है तथा विशुद्ध
आत्माका ध्यान भी अवश्य करना चाहिये क्योंकि विशुद्ध आत्मस्वरूपके ध्यानी
मनुष्यको ही मोक्षकी प्राप्ति हो सक्ती है । कहा भी है–

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसा । आत्मानमात्मवान् ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितं ॥

अर्थात्–ज्ञानवान मनुष्य इंद्रियोंके समूहको वशकर एकाग्रमनसे आत्माका ध्यान धरै इसलिये जो मनुष्य मोक्षकी प्राप्तिके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे समस्त परिग्रहों का त्यागकर भगवान जिनेंद्र द्वारा उपदिष्ट लिंगको धारणकर विशुद्ध आत्माके स्वरूपका ध्यान करें जिससे उन्हें मोक्षकी प्राप्ति हो जाय ॥ ११२ ॥

आराहणाइ सारं उवइट्ठं जेहिं मुणिवरिंदेहिं ।
आराहियं च जेहिं ते सव्वेहं पवंदामि ॥ ११३ ॥

आराधनायां सारमुपदिष्टं यैर्मुनिवरेंद्रैः ।
आराधितं च यैस्तान् सर्वानहं प्रवंदे ॥ ११३ ॥

अर्थ–जिन मुनीश्वरोंने आराधनाओंके सार-परमात्माका कथन किया है और जिन महानुभावोंने उसकी आराधनाकी है उन सबको मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूं ॥११३॥ ग्रंथकार अपनी लघुता बतलाते हैं–

णय मे अत्थि कवित्तं ण मुणमो छंदलक्खणं किंपि ।
णियभावणाणिमित्तं रइयं आराहणासारं ॥ ११४ ॥

न च मे अस्ति कवित्वं न जाने छंदोलक्षणं किंचित् ।

निजभावनानिमित्तं रचितमाराधनासारं ॥ ११४ ॥

अर्थ–न मैं कोई बड़ा भारी कवि हूं और न मुझे छंदोंका ही पूर्णरूपसे ज्ञान है इसलिये यह जो मैंने आराधनासार लिखा है वह अपनी भावनाके लिये रचा है अर्थात् इस आराधनासारसे मेरी आत्मामें विशुद्ध आत्माकी भावना होवे यह आशा है यश किंवा लाभ मैं नहिं चाहता ॥ ११४ ॥

अमुणियतच्चेण इमं भणियं जं किंपि देवसेणेण ।
सोहंतु तं मुणिंदा अत्थि हु जइ पवयणविरुद्धं ॥ ११५ ॥

अज्ञाततत्त्वेनेदं भणितं यत्किंचिद्देवसेनेन ।
शोधयतु तं मुनींद्रा अस्ति हि यदि प्रवचनविरुद्धं ॥ ११५ ॥

अर्थ–अंतमें ग्रंथकार लघुता वतलाते हुये कहते हैं कि–तत्त्वोंके वास्तविक ज्ञान से शून्य जो मुझ देवसेनने इस ग्रंथमें वर्णन किया है यदि वह किसीप्रकारसे शास्त्र विरुद्ध जान पड़े तो विद्वान मुनियोंसे प्रर्थना है कि वे इस ग्रंथको शुद्ध कर डालें।११५

इसप्रकार श्रीदेवसेनाचार्य विरचित आराधनासार भाषा टीका सहित समाप्त हुआ ॥

आराधनासार